शब्द

जो तुमने दिए...

निबन्ध

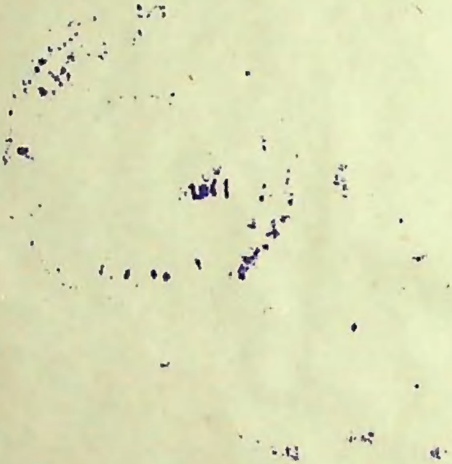

शब्द जो तुमने दिए

निबन्ध और निबन्ध

K. P. SABHA AMBPHALLA
LIBRARY
No............
Date............
JAMMU

सम्पादक

रमेश मेहता

जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू

सचिव द्वारा जे० एण्ड के० अकादमी
ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़,
नहर मार्ग, जम्मू के लिए
प्रकाशित

☐

प्रिंट हाऊस, एक्सचेंज रोड, जम्मू
द्वारा मुद्रित

☐

प्रथम संस्करण : 1979

☐

आवरण : टी० एस० बत्रा

☐

प्रकाशन-व्यवस्था : विजय सूदन

मूल्य : 6-50

SHABAD JO TUMNE DIYE—HINDI ESSAYS
EDITED BY : RAMESH MEHTA

आरम्भ

□

जम्मू-कश्मीर कल्चरल अकादमी के तत्वावधान में प्रकाशित होने वाला यह पहला स्वतंत्र हिन्दी निबन्ध संकलन है। इससे पूर्व संस्थागत एवं लेखकीय स्तर पर छिटपुट प्रयास देखने में आए। इन संकलनों में संकलित निबन्ध किन्हीं विशेष संदर्भों को ध्यान में रखकर लिखे जाते थे अतः वे विषय की विविधता के धरातल पर कुछ अधिक नहीं दे पाए। फलतः एक ऐसे संकलन की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी जिसमें प्रकाशित निबन्ध विभिन्न भाव-भूमियों का स्पर्श करते हों, जो लेखक के मानसिक उद्वेलन का प्रतिफलन हों और जो राज्य के दोनों भागों से लिए गए हों।

प्रस्तुत संकलन इन्हीं आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर तैयार किया गया है। तो भी इसे तमाम पूर्वा-ग्रहों से मुक्त रखने की चेष्टा की गई है। संकलन के

लिए लेख आमन्त्रित करते समय हमने लेखक बन्धुओं से अनुरोध किया था कि वे हमें **ललित निबन्ध** ही भेजें। इस पर नगर में **ललित** को लेकर बहुत दिनों तक चर्चा का बाज़ार गर्म रहा। अन्ततः **ललित निबन्ध** के नाम पर हमें जो भी मिला, हमने उसे बिना किसी कांट-छांट के ज्यों का त्यों प्रकाशित कर दिया···और हम यह मान कर चलते हैं कि हमने जो भी किया उचित ही किया क्योंकि संकलित निबन्धों में विविधता के ऐसे आयाम उद्‌घाटित हुए हैं जो न केवल ताज़गी प्रदान करते हैं बल्कि लेखकों ने चिन्तन के तारों को जहां छोड़ा है वहां से उन्हें आगे ले जाने के लिए विवश भी करते हैं। ये निबन्ध 'शब्द तुमने रचे' से शुरू होते हैं और अनेक धाराओं से बहते हुए, चिन्तन के अनेक धरातलों का स्पर्श करते हुए, हास्य-व्यंग्य के माध्यम का सहारा लेने लगते हैं। विभिन्न शैलियों, विविध विषयों के समावेश को इस संकलन की शक्ति माना जा सकता है। निःसन्देह प्रस्तुत निबन्ध जम्मू-कश्मीर के हिन्दी लेखकों की क्षमताओं को खोलते हैं···उन पर हमारे विश्वास को दृढ़ करते हैं और प्रदेश में हिन्दी साहित्य के उज्ज्वल भविष्य की ज़मानत भी देते हैं।

—**रमेश मेहता**

अनुक्रम

'शब्द तुमने रचे'	1	रतन लाल शांत
अविरल चिन्तन धारा	7	डॉ० कौशल्या वल्ली
धारा वितस्ता की	15	डा० कृष्णा रैणा
आधुनिक साहित्य में वर्तमान का आग्रह	22	प्रो० सुभाष भारद्वाज
सौंदर्यबोध	30	डॉ० गंगादत्त विनोद
प्रसारण के मूल सिद्धांत	38	दीदार सिंह
आहत चीड़ें	46	अशोक जेरथ
क्लीनिक में साहित्यकार	53	डॉ० आदर्श

नये बौद्धिकों की नई पीढ़ी	64	ओम्कार काचरू
कहानी और मैं	73	ओ॰ पी॰ शर्मा
उधार मुहब्बत की कैंची है	80	घनश्याम सेठी
तुझको पराई क्या पड़ी	86	डॉ॰ संसार चन्द्र
ज़रूरत है—एक टी-हाऊस की	91	डॉ॰ ओम प्रकाश गुप्त
साधारण जन और लेखकीय दायित्व	97	ओम गोस्वामी
लोरन	103	ज्योतीश्वर पथिक
बाजे वाले	108	जितेन्द्र शर्मा

शब्द जो तुमने दिए

रतन लाल शांत

'शब्द तुमने रचे'

मन के किसी भाव को नाम देना, स्थिति को शीर्षक देना—यही तो रचना है। नाम देते देते शब्द बनने लगते हैं, शीर्षक देते हुए भी शब्द ही गढ़े जाते हैं।

शब्द गढ़ने के प्रयत्नों के साथ दो चार वर्षों से जुड़ा रहने के कारण सही शब्द दे पाने की कठिनाई तथा सीमा समझता हूं, प्रयत्न कोशकारिता का रहा है जो आम समझ से रचना के अंतर्गत नहीं आता। लेकिन शब्द क्या है आखिर? मन के चित्र की प्रतीक ध्वनि ही तो। मन को चंचल या विकारी बताते हैं अर्थात किसी एक विकार या भाव पर न टिकने वाला। सतत परिवर्तन-शील। हर चित्र का एक आसंग होता है और शब्द के लिए शब्द देना हो तो खासी कोशिश करनी पड़ती है। भटकना पड़ता है। आसंगों से गुज़रना पड़ता है। ध्वनियों के कूचों से गुज़रना पड़ता है तथा शोर में से एक अकेली आवाज़ चुननी पड़ती है। मन की दुनिया में बेतहाशा भागदौड़ कष्टप्रद ही होती है और कष्ट के बाद जो मिले, जो अकेली ध्वनि पहचान की पकड़ में आए, वह रचना नहीं होगी?

देखिए अंग्रेज़ी के 'फैंसी' शब्द को पारिभाषिक शब्दावली के कोशकार ने 'मनोराज्य' कहा है। लगता नहीं कि सही पर्याय है। मन को जैसा मैं जानता हूं, वहां किसी नियम का बन्धन नहीं हो सकता। फिर 'राज्य' क्या टिकेगा—अराजकता तो मन का आभूषण है। मन का काम है तुकी-बेतुकी सोचना। यों तो 'फैंसी' के भी यही मानी हैं पर 'मनोराज्य' क्यों निकटतर

लगता है ? बल्कि 'फैंसी' शब्द की व्युत्पत्ति 'फैंटेसी' से बता जाती है तब तो और भी सही पर्याय है इसका 'मनोराज्य' यानी भाषाविज्ञान के नियमों से एकदम यही पर्याय निश्चित किय गया है, पर मुझे 'लगता' है कि 'मनोराज्य' निकटतर है—मेर अनुभूति के। मेरी अनुभूति मेरी है। वह मेरी रचना की अकेल ज़िम्मेवार है। वह मेरी हर तुकी-बेतुकी सोच की मूल-प्रेरणा है।

यों ही सोचते हुए ग़ालिब और महादेवी को जोड़ने लगा 'तुलनात्मक अध्ययन' का हर्गिज़ इरादा न था। 'प्रभाव' जतला की भी नीयत न थी। बस वही मनोराज्य का प्रसार। अचान मन के किसी तहखाने में यह मिसरा दिपने लगा—**'इशरते कतर है दरिया में फना हो जाना'** और उसके पास ही दीप्त देखा महादेव का मधुर मधुर जलता दीपक, जिसे कवयित्री ने यों संबोधित किय था :

तू जल जल जितना होता क्षय

वह समीप आता छलनामय।

बहुत दूर की सूझ है दोनों को मिलाकर देखना। युग, दृष्टि, प्रेरणा, परिप्रेक्ष्य और जाने कितने और पारिभाषिक शब्द लिखकर दोनों की दूरी स्थापित की जा सकती है। लेकिन शब्द वाद में बनेगा। पहले से ही मन की गुहाओं में भटकने पर प्रतिबन्ध लगाया जाय तो हो चुकी रचना।

ग़ालिब के इस शेर का दूसरा मिसरा है **'दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना'**। यह भी तो महादेवी के निकट पड़ता है। दर्द को ग़ालिब ने किस खूबी से जाना तथा समझाया है। महादेवी के कथ्य का केन्द्र ही दर्द है। वे अपनी सारी रचना दर्द की ही दीवार पर खड़ी करती हैं। ग़ालिब नहीं करते। **'तुझ को पीड़ा में ढूंढा, तुझ में ढूंढूगी पीड़ा'**। यों उनके जीवन तथा काव्य की उपलब्धि होजाता है—दर्द। हम बड़ी सुविधा से उनकी इस प्रवृत्ति को एक 'छायावादी' गाली देकर कंडेम्न करते हैं। और जब 'अज्ञेय' कहते हैं कि **'दर्द सब को मांझता है'** तो हम छायावाद

की सीमा और बढ़ाते हैं—अज्ञेय तक। दर्द से प्यार और दर्द के महत्व का स्वीकार रचना से गुज़रने वाला हर ईमानदार लेखक करेगा। दर्द से चीत्कारते रहने और दर्द से प्यार करने में आप अन्तर बताएं तो बताएं, मुझे नहीं लगता। आज का 'अकवि' आज के अभिशप्त आदमी की मजबूरी का चित्रण करते हुए खुद भी तो मज़ा लेने लगता है उस 'मजबूर स्थिति' का :

...तुमने व्यवस्था को
एक मोटी और भद्दी गाली दी थी
और व्यवस्था ने एक हसीना के अंदाज में
संकेत किया था—आओ प्यारे लाल आओ !'
और तुम हसीना के चरण-चुंबन में निमग्न हो गए थे
पूरी तरह से बिछ गए थे
उसके लिए.........[1]

बस नाम बदला है, भाव वही है। शीर्षक और हो गया है, स्थिति वही है। शायद रचना के लिए दर्द का आतंग अनिवार्य है। तभी तो 'श्लोक' की मूलप्रेरणा 'शोक' की थी और भवभूति शास्त्र विरुद्ध होकर भी करुणरस के सहारे लोकप्रिय हो सके।

रचना और दर्द संगी हैं। और फिर दर्द के बाद रचना का संतोष। रचना पूर्ति तक न पहुंची तो संशोधन। नहीं सुधरी तो भयंकर प्रतिक्रिया। आशुतोष का प्रलयंकर होजाना एक सहज प्रक्रिया की तरह स्वीकार किया है, हमने। हज़ारों वर्षों के पाठकों-श्रोताओं ने इसे और इसी तरह के अन्य मिथकों को जीवन में उतार कर देखा और सत्य बना दिया। उनकी अपनी जिन्दगी के कई अनुभव, कई अशीर्षक स्थितियां थीं जिनके लिए पुराणकार ने पहले ही शीर्षक सुझा रखे थे।

रचनाकार का दर्द से मोह भी होता है या फिर यों कहें कि वह दर्द को उस हद तक बढ़ने देता है कि जब तक वह पूरा पक जाए और स्वयं ही कोई शक्लो-सूरत उभार पाए। नहीं उभारता

---

[1] इस हादसे में : नरेन्द्र मोहन : 1977 : पृ० 43

तो रचयिता उसे उपेक्षित करता है। न कर पाए उपेक्षा तो उसे अपने हाथों मेट देता है।

वितस्ता नदी में एक मछुए का दो वर्ष का बच्चा डूबा। 'मछली पकड़ के पानी से निकलने' की स्थिति में नहीं था क्योंकि भयंकर बाढ़ आई हुई थी। कुहराम मच गया, पर तेज़ धारा में कूदने की हिम्मत नहीं कर रहा था कोई। पिता भी बेबस देखता रह गया—बेबस—पत्थर सा—मां की तरह नहीं, जो छाती पीट पीट के दुख घटा रही थी। बच्चा बहता रहा। बड़ी बड़ी नावों (बोहितों) के बीच दो चार गज़ खाली जगह थी जिसमें बहते बच्चे के बेहरकत अंग दिखते रहे। देखता रहा नवजवान बाप बोहित की छत की मुंडेर पर खड़ा। बोहित सटासट लगे हैं और लहरों के थपेड़ों से हिचकोले खा रहे हैं। वह दूसरी नाव हिल रही है और अभी आ कर टकराएगी इस नाव से और बच्चा इनके तले आएगा—दो भारी पाटों के बीच कुचल जाएगा। भोगता रहा बाप। फिर अपने आप को झटक कर आगे बढ़ा। थोड़ी देर में लाश भी न मिलती। एकबार एक नाव के तले आकर फिर दूसरी फिर तीसरी और फिर अनन्त नावों के तले। लाश भी न मिलती। मछुआरे बाप ने नाराच (लोहे का नेज़ा) लिया और अगले ही क्षण लाश ऊपर आ रही। नाराच के काँटे में फंसी लाश से निकला ताज़ा खून ही बाप के आंसुओं का बांध तोड़ सका।

कितना निमर्म हो सकता है बाप! अपनी रचना को निष्फल होता देख स्वयं 'हत्या' की उसकी! 'हत्या' के लिए अपने को माफ नहीं किया होगा उसने। बहुत देर तक पश्चाताप की आग में जलता रहा होगा—शायद जीवित था बच्चा! शायद आखिरी सांस लौटाई जा सकती!

रचना की सफलता उसकी परिणति में है। अधूरी रह गई तो कचोटती रहती है। वह सृष्टि क दर्द नहीं, असफलता का ताप होता है। रचनाकार जितना लिखता है उससे कई गुना उसके मन पर केवल मंडराता है। बदली-सा छाया रहता है उसके मनके

आकाश पर। इसमें से अधिकांश की मृत्यु हो जाती है। और स्रष्टा को अवर्णनीय दर्द दे जाती है। एक अनकहा दर्द। वह उससे दूर भी नहीं रहता बल्कि उसी में डूबा रहता है। कभी इन्हीं में से कोई एक पकड़ लेता है और रचना हो जाती है।

शिल्पी विशु की कथा जगदीशचन्द्र माथुर ने गढ़ी है। अपनी रचना कोणार्क को पूर्ति के आयोजन तक न पहुंचा पाने के दर्द से बेहाल रहा विशु और इसलिए अपने हाथों से वर्षों की साधना की उपलब्धि को धराशायी कर दिया। 'कलाकार का प्रतिशोध' था वह। कहीं राजा नरसिंह देव के सपनों की कृति और उसकी नितांत निजी अभिव्यक्ति से रंजित वह रचना आततायी के हाथों में पड़ कर कलुषित न हो जाए। स्वयं भी शहीद होगया विशु। अपनी रचना, पुत्र 'धर्मपद' को सत्रह वर्ष बाद पाकर खो दिया विशु ने। न होम देना अपने सर्वस्व को? हद से बढ़ गया था उस का दर्द। आप अपनी दवा न हो जाता तो उसकी इयत्ता क्या होती? दर्द से गुज़रकर ही तो उसने एक पारिभाषिक नाम गढ़ा—'कलाकार का प्रतिशोध'। मांझी की—मछुए जनक की भी यही मनस्थिति थी।

जब तक हद में है तब तक स्रष्टा होगा, दृष्टि देगा, प्रेरणा बनेगा और हद से बढ़ने के साथ ही आत्मलीन हो जाएगा। तब भी इलाज नहीं चाहेगा। अपने बच्चे की स्वयं हत्या करेगा क्योंकि तब तक अस्तित्व बेमानी हो चुका होगा।

अस्तित्व को समझाने के लिए नीत्शे ने कहा था कि तीक्ष्ण अनुभव, ऊंची चोटियों से गुज़रते हुए नीचे गहरी खाइयों में कूदते रहने की इच्छा का सा होता है। इच्छा मात्र। उससे होने वाली प्रतिक्रियाओं प्रतिवर्तों को जीना मात्र।

दर्द पूरा हो जाए तो समस्या सुलझ जाए। सृष्टि की जरूरत फिर क्या रहेगी। यह तो एक क्रमिक परिणाम होगी ही। उसके बारे में सोचें न सोचें, उसे चाहें न चाहें। रचना पूरक है। दर्द

अपूर्ण है। पर इसकी सतत अनुभूति ही रचना की जिम्मेवार है। महादेवी को ऐसे समझें तो क्या हर्ज है। रचना न करके रचना को तीव्र ललक का बखान किया है उन्होंने। ललक ही कथ्य हो गई है। रचनाप्रक्रिया ही रचना का मुख्य वर्ण्य बन गई है। इसी लिए तो उलझती है। कहीं कहीं तो शब्दजाल मात्र रह जाती है।

शब्द की यही मुश्किल है। शब्द दे पाने, सही शब्द दे पाने की काफी समस्याएं हैं पर इनके बगैर चारा भी नहीं। उधर मन आसंगों में से गुज़रने का आदी है। मन के राज्य में जोड़ तोड़ की काफी गुंजाइश है। नहीं करेंगे तो असृष्टि का दर्द कचोटेगा। भीतर ही भीतर। जलाएगा और फिर अन्य सृष्टि के रूप में फूटेगा ही :

आज नहीं,
कल नहीं
चाहूं भी तो कब तक छाती में दबाये
यह आग मैं रहूंगा ?
आज तुम शब्द न दो, न दो
कल भी मैं कहूंगा। (बावरा अहेरी)

डा० कौशल्या वल्ली

अविरल चिन्तन धारा

निबन्ध लिखना है वह भी होना चाहिए ललित! निबन्ध क्या होता है? मौलिक विचारों को मौलिक भाषा में निबद्ध करिए तो वह निबन्ध बनता है।

सृष्टि के रचयिता ने विविध प्रकार की सृष्टि बनाई है। असंख्य अगणित रूप, रंग-ढंग —मनुष्य निहारते निहारते दंग रह जाता है। मानव देह, इस सारी सृष्टि में अनमोल देह है।

इस जगत् में नर देह के आदर्श भी विभिन्न और विविध हैं। कोई भौतिक जगत् में अपने को सर्वोत्कृष्ट स्तर पर देखना चाहता है। सहस्रों, लाखों, करोड़ों का स्वामी, बड़े बड़े भवनों में रहने वाला, अत्यधिक अत्याधुनिक यान और वाहन रखने वाला, यश, कीर्ति और चारों ओर से सदा सर्वदा जनता से घिरा हुआ! पर यह सब पा के भी, एक दिन अकस्मात् उस के श्वास की गति रुक जाती है। वह चला जाता है—यह सब धन, वैभव, सम्पत्ति, पत्नी, पुत्र, बहुएँ, दोहते, पोते छोड़ कर। कहां जाता है? एक अनजान स्थल को, जहां का समाचार लौट कर किसी ने नहीं बताया। देखने में तो उस का शरीर पांच तत्त्वों का बना हुआ है और मिट्टी में मिल जाता है। उस के जाने पहचाने उस के रक्त के संबन्धी, उस के मित्र, उस के नौकर-चाकर—सारे हाहाकार मचाते हैं। लेकिन, कब तक? जब तक कि वह शव शमशान घाट पहुंचा कर जलाया जाता है या कब्रिस्तान लेजा कर दफनाया जाता है। लौट कर, उस के तथाकथित प्रेमी उस की किन्ही भूली बिसरी बातों को याद कर के, दो आँसू बहा

देते हैं। याद भूल जाती है। जागतिक व्यवहार में सब भाई बन्धु फिर से लगे रहते हैं। भूल जाता है वियोग। भूल जाती हैं बातें। संसार का प्रपञ्च अपने पाश में मानव को बद्ध करता हुआ पुनः एक बार इच्छाओं और वासनाओं की पूर्ति में लगाता है।

तरह तरह के स्वभाव हैं, तरह तरह की वासनाएँ हैं, तरह तरह के जीवन के उद्देश्य हैं, आदर्श हैं और हैं अधूरे कार्य जिन को पूरा करने का उद्देश्य लिए कोई रट लगाए बैठा है— 'या पूरा ही करूंगा या मरूंगा,। 'करो या मरो' की रट लगाए वह दृढ़ इच्छाशक्ति का अभ्यास चालू करता है।

मानव देह के जीवन में यात्रा के कुछ पड़ाव हैं। पहला पड़ाव—शैशव अवस्था—शिशु बन के जीव संसार में अपना नाटक खेलता है। संसार को उसे कोई सुध नहीं। मां के पेट से जन्म ले कर पहली बार उस शिशु का शरीर धरती को छू लेता है। यह मानव की पहली अवस्था है। मनुष्य के जीवन का अभिनय यहीं से प्रारम्भ होता है। जन्मता है, अंगूठा चूसता है। भूख उस की, जन्मतः, स्वाभाविक देन है। नहीं जानता वह कौन है? कहां से आया है? कहां जाना है? नग्न शरीर मां के वक्षःस्थल से चिपक जाता है भूख मिटाने के लिए। मां के दुग्धामृत की स्निग्ध धारा को पीने में वह रम जाता है। उसे अपने पराए की पहचान नहीं है। सब उस के लिए एक समान हैं। उस को मालूम नहीं गन्दगी क्या है, सफाई क्या है? वह अपना मलमूत्र, बिष्ठा, सब उंगली से उठा उठा के मुंह में डालने से सकुचाता नहीं, यदि कोई उसे रोकता नहीं, टोकता नहीं। उस ने सोना है—नहीं ज्ञात है उसे तख्तपोश पर सोना है उसने या धरती पर या कुर्सी पर या मेज़ पर या कहां? जहाँ उस को नींद आ जाए, वहां सोएगा। ज़बान नहीं उसकी जो बोले भूख प्यास की कहानी। चिल्लाएगा ज़रूर वह। आप की सहृदयता है आप उसकी चिल्लाहट का अर्थ समझिए—भूख है कि प्यास है कि कहीं शरीर में दर्द है? उसे अग्नि और शीतलता में अन्तर नहीं मालूम।

वह आग में उंगली डालता है, उंगली जल जाती है। वह रोता है, चिल्लाता है, लेकिन उसे समझ नहीं आती कि आग क्या है।

इस के बाद जीवन के अभिनय का द्वितीय दृश्य प्रारम्भ होता है। धीरे धीरे संसार के वातावरण में ढल कर बच्चा मां की पहचान करता है। बड़े भाई बहन हों तो उनकी पहचान करता है। जो भी उस को गोदी में ले, उसे प्यार जतलाए, वह उन्हीं का हो जाता है। अब उस को खिलौने चाहिएं। खिलौनों के संसार में वह इतना प्रसन्न रहता है कि पुरातन काल में चक्रवर्ती राज्य मिलने पर भी किसी राजा को इतना आनन्द नहीं आता होगा। आजकल तो राजाओं का समय रहा नहीं। जब भूख प्यास सताती है तब खिलौनों के प्रति मोह थोड़ा छूट जाता है और मां के पास आता है। भूख प्यास की तृप्ति पर फिर से खिलौनों के संसार में मस्त हो जाता है। धीरे धीरे उस के समवयस्क उस के साथी बनते हैं। वह अन्तर से साथियों की आवश्यकता का अनुभव करता है। परिणामत: उन के साथ खेलने में व्यस्त हो जाता है, आनन्द का अनुभव करता है। अब उस का दायरा पहले की अपेक्षा विशाल हो जाता है।

चार पांच साल का बच्चा जगत् के रंगमंच पर उपस्थित होता है। उस के माता पिता उसे किसी शिक्षा निकेतन में भेजने की सोचते हैं। इस स्थल पर तरह तरह के शिशु स्वभाव देखने को मिलते हैं। कोई खुशी से जाना चाहता है, कोई जाने से कतराता है, कोई भयभीत होता है, कोई जाने में विरोध करता है। अस्तु ! आज के युग में सब ने शिक्षा-प्राप्ति के लिए शिक्षा केन्द्र तो जाना ही है। वहां जाए बिना समाज में गुज़ारा नहीं। अपने जीवन के लगभग सोलह अनमोल वर्ष शिक्षा की प्राप्ति में व्यतीत करता है। कोई इन्जीनियर बनता है, कोई दार्शनिक बनता है, कोई नेता बनता है, कोई प्राध्यापक बनता है, कोई समाज सेवक बनता है और कोई पढ़ लिख कर, संसार के सुख दुःख के चक्र को देख कर जीवन की वास्तविकता के अनुसन्धान में अपने को खो देता है—मैं कहां आ फंसा हूं इस संसार चक्र में ? मैं कौन हूं ?

कहां से आया हूं ? क्यों आया हूं ? कहां जाना है ? क्यों जाना है? जीवन नाशवान क्यों है ? इस का रहस्य कैसे ज्ञात हो सकता है ? वह खोज करते करते इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि वह स्वयं इन्द्रियों, मन, बुद्धि, अहंकार, लोभ, मोह, काम, क्रोध से पृथक है और इन सब से पृथक् रूप ही उस का यथार्थ रूप है। यह संसार बिच्छू के समान है और मानव को काटना चाहता है। इस बिच्छू रूपी ससार से बचने का एक ही उपाय है । झूठ-मूठ के बन्धन काटो। इन्द्रियों की आंख से नहीं भीतरी आंख से देखो। जीवन के रहस्य को समझो। इन्द्रियों के द्वारा दिखाई देने वाला चमचमाता और जगमगाता संसार मूलतः अन्धकारावच्छिन्न मोह से आवृत्त दुःख जनक है। इस से सावधान रहा जा सकता है। विश्वास चाहिए, परिपूर्ण विश्वास। अपने में, अपने भीतर की एक ऐसी सत्ता में जो शाश्वत है, सर्वत्र है, सर्वव्यापक है, अचिन्त्य है, अविनाशी है।

प्रायः व्यक्ति भौतिक इन्द्रियों के ही घेराव में रहता है। युवावस्था में पदार्पण करके उसके जीवन-अभिनय का तीसरा दृश्य समारंभ होता है। घर, बच्चे, पत्नी, संसार—सब में रमता वह युवक, जवानी के जोश में अपने को ही सर्वशक्तिमान मान बैठता है। किसी चैतन्य सत्ता में विश्वास करना वह अपने सन्मान के विरुद्ध समझता है, कायरता समझता है। उस के आकर्षण का केन्द्र उस की पत्नी, उस के बच्चे, उस के मित्रों की टोली, उस के सम्बन्धीजन हैं।

हम यह न भूलें की सुख और दुःख इस जीवन रूपी रथ के दो पहिये हैं। कभी सुख सामने आता है कभी दुःख। सुख के तो सभी साथी हैं, लेकिन दुःख में कोई साथ नहीं देता। यहां तक कि पत्नी और बच्चे भी ठुकराते हैं। उस के जीवन में भी कभी कभार एक ऐसा क्षण आता है जब वह सोचता है कि संसार असार है। वह पत्नी जिस को उस ने अपने जीवन का सर्वस्व समझा था, वे सन्तति जो उस का जीवन थे, वे भी सदा सर्वदा विश्वास के योग्य नहीं। उस के दिल में एक उथल-पुथल सी मच जाती है।

किन्तु......किन्तु पुनः भौतिकता उस को अपने अंचल में आवृत्त करती है। वह माया के प्रपञ्च में पुनः एक बार डूब जाता है। सांसारिकता के चमकीले नकली रूप से उस की आंखें चकाचौंध हो जाती हैं।

समय बहुत बलवान है। समय सब से भयंकर चकमा देने वाली शक्ति है। कामुकता का भी जीवन यात्रा में साधारणतय एक स्थान होता है। यह अपने आवेश में यौवन में पदार्पित मानव को आक्रान्त कर के बहुधा उस से अकरणीय कार्य करवाती है। लेकिन समय पलटा खाता है। मानव की इन्द्रियां जवाब दे देती हैं। उस के शरीर के अवयव कार्य करना छोड़ देते हैं। कान सुन नही सकते, नेत्र देख नहीं पाते, टांगें चल नहीं सकतीं, स्मृति जवाब दे जाती है। कल की बात आज याद नहीं। हाथ थर-थराते हैं। वह लाचार, आश्रित, दुःखी बेबस जीव के रूप में अपने परिवार के सामने प्रकट होता है। परिवार विशेषतया बच्चे उस को वृद्ध, "सठिया गया है," ऐसा समझ कर प्रायः उसका अनादर ही करते हैं। मानव स्वार्थमय संसार की असारता को समझता है। जिन बच्चों के लिए उस ने अपने जीवन में कभी ईमानदारी और सच्चाई छोड़ दी थी, वे ही बच्चे उस दिन की ताक में रहते हैं कि कब उन का वृद्ध पिता संसार से कूच करे और उन को राहत मिले। वे स्वतन्त्र हो जाएं। शोकमग्न पिता जाने अनजाने कभी कभी राधा-कृष्ण, हरि बोल, सीता-राम, ओम् कह कर एक ठण्डी आह भरता है। समय आता है जीवन का दीपक बुझ जाता है। एक जीवन की कहानी समाप्त हो जाती है। प्रश्न चिन्ह वहीं का वहीं रहता है। शरीर वैसे का वैसा ही है। कौन सी शक्ति शरीर से लुप्त हो चुकी कि मानव शव कहलाया। शरीर मिट्टी था मिट्टी में मिल गया। पर वह शक्ति—वह शक्ति जो बोलती थी, सुनती थी, चलती थी, सोचती थी—वह शक्ति कहां गई? क्या हुआ उस शक्ति को?

इस का उत्तर हमारे समक्ष वह मानव देता है जो अपने जीवन के आरम्भ में ही इस प्रश्न से दो-चार हुआ था कि वह है कौन? कहां से आया है? उसे यहां से जाना कहां है?

दूसरे शब्दों में मानव जीवन का चरम उद्देश्य क्या है? मनुष्य का यथार्थ स्वरूप क्या है? अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने में ही मानव की मानवता है। इस संबन्ध में विभिन्न मतभेद हैं। कोई शरीर को ही वास्तविकता मानते हैं। उन के कथनानुसार शरीर हमारे समक्ष प्रत्यक्षरूपेण है और यही वास्तविकता है। शरीर के परे भी कोई वस्तु है—यह कौन देखता है?

द्वितीय मतानुसार शरीर से भिन्न शरीर में रहने वाली शक्ति ही वस्तुत: मानव का यथार्थ रूप है। उसी परम सत्ता की पहचान करना ही मानव जीवन का वास्तविक लक्ष्य है। उसी पूर्ण सत्ता के स्वरूप को पहचानने के लिए जिज्ञासु ने बाहर से भीतर की ओर प्रवेश करना होता है। बाहर से अपनी इन्द्रियों को मोड़ कर भीतर की ओर प्रवेश मुख्यत: दो प्रकार से होता है।

प्रथम प्रकार से —विवेकशील मानव संसार को सब वस्तुओं की क्षणभंगुरता को देख कर 'नेति नेति' अर्थात यह नहीं, यह नहीं कह कर बाह्य जगत से मुख मोड़ लेता है। मुख मोड़ने का तात्पर्य संसार को छोड़ना नहीं है, अपितु सांसारिक कार्य को द्रष्टा के रूप में कर लेना है—आसक्ति रहित हो कर। जीवन में वह अपना कर्त्तव्य कर्त्तव्य के लिए करता है। यहां तक कि कीर्ति, मान, यश, प्रशंसा से भी वह अपने को पृथक करना चाहता है। इस विचार धारा का मानव अपने जीवन में स्पष्टतया अवान्छित साधनों का अवलम्बन नहीं लेता। उस के हर कार्य में ईमानदारी और सच्चाई साधन बनते हैं। वह निर्भयता का प्रतीक होता है। पहले पहले हम में आत्मबल की छटा झलकती है। समाज उसका उपहास करने को उद्यत हो जाता है, किन्तु ऐसे मानव का आत्म विश्वास उस उपहास को उपेक्षित करता है। उपहास से अप्रभावित मानव का विरोध होता है, परन्तु निर्भीक मानव विरोध से भी टस से मस नहीं होता, एतत्फलस्वरूप अन्ततोगत्वा समाज उस का स्वागत करता है, उस को-पथ प्रदर्शक मानता है। समय पर जब उस का शरीर छूट जाता है तो वह आनन्दमय अवस्था में पाया जाता है। सोचता है "मैं शाश्वत हूं मूलत:, शरीर रूपी वस्त्र

बदल रहा हूं। अब पुराना वस्त्र छोड़ कर नया धारण करना आवश्यक है"। ऐसे मानव के जाने पर संसार रोता है।

दूसरी विधि के अनुसार वाह्य जगत् को साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। अर्थात् बाह्य जगत् में दिखाई देने वाली वस्तुएँ मूलतः अपने स्वरूप के अन्तर्गत हैं वाहर नहीं। शंकराचार्य ने इसी परिस्थिति को लक्ष्य करके कहा था "विश्वं दर्पणदृश्य मान नगरी तुल्यं निजान्तर्गतम्" यह विश्य वस्तुत: अपने स्वरूप के अन्तर्गत है, बाहर नहीं। जिस प्रकार दर्पण में नगर प्रतिविम्ब रूप में दिखाई देता है, वह जैसे दर्पणस्थ प्रकाश के अतिरिक्त नहीं है, ठीक उसी प्रकार आत्मा रूपी प्रकाश के अतिरिक्त बाहर में विश्व नाम की कोई वस्तु नहीं है, केवल माया के प्रभाव से बाहर अनुभूति होती है-"मायया वहिरिव उद्भूतम" सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति पर ज्ञान होता है कि सब कुछ भीतर में है, बाहर कुछ भी नहीं है। यह ज्ञान साकार है। एतदनन्तर साकार ज्ञान निराकार ज्ञान में परिणत हो जाता है। जिज्ञासु का विकास और अधिक होने पर ज्ञान ज्ञाता हो जाता है। तदनन्तर ज्ञातृ भाव भी नहीं रहता, क्योंकि ज्ञातृ भाव महा शक्ति का एक अंश है। ज्ञातृ भाव की समाप्ति पर विशुद्ध महाशक्ति का ही खेल रहता है। समस्त सृष्टि उसी जननी की सन्तान है।

आत्मा ने अभी भी अपने परम स्वरूप में प्रतिष्ठित होना है। परम स्वरूप सम्पूर्ण महाप्रकाश से अविच्छिन्न स्वरूप युक्त महाशक्ति में लीन होता है। इस चरम प्राप्ति की उपलब्धि किसी साधन, कर्म, उपासना, योग या भक्ति के अधीन नहीं है। इसी प्रसंग में उपनिषद् का यह वचन युक्तियुक्त प्रतीत होता है—

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न येधयान बहुनाश्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य: तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुस्वीम्"।

इस ऊहर्भगति में प्रयास का भी स्थान है। कृपा सहित प्रयास आवश्यक होता है। कहीं तो प्रयास की अधिकता होती है कहीं कृपा की। अपने प्रयास का प्राधान्य तब तक रहता है जब तक आत्मा में देह संबन्ध से कर्तृत्वाभिमान रहता है। कर्तृत्वाभिमान छूट जाने

पर प्रयास का प्राधान्य नहीं रहता। भगवत्कृपा ही मुख्य हो जाती है। यही शरणागति की स्थिति है। सच्चा संन्यास इसी का नाम है।

अन्ततोगत्वा आत्मा की निष्कर्मावस्था का उदय होता है। कर्तृत्व बिल्कुल नहीं रहता, केवल द्रष्टाभाव रहता है। परमेश्वर की क्रिया शक्ति सब कुछ करती है। तदनन्तर परमेश्वर के कर्तृत्वभाव और आत्मा के द्रष्टाभाव की भी पृथक् स्थिति नहीं रहती। दोनों एक हो जाते हैं। यही 'स्व-भाव' की स्थिति है। इस अवस्था में आत्मा ही परमेश्वर है और परमेश्वर ही आत्मा। प्रकृति पुरुष में भेद नहीं रहता, शिव शक्ति में भेद नहीं रहता। साकार और निराकार एक हो जाता है। विश्व और विश्वातीत में अभिन्नता स्थापित हो जाती है। 'तत्', 'त्वम्' और 'अहम्'—तीनों एक हो जाते हैं। इसी परिस्थिति में अखण्ड सच्चिदानन्द आत्मारूपी स्वातन्त्रमय स्वयं प्रकाश स्वात्मा का साक्षात्कार होता है और नित्य स्थिति होती है।

यही मानव मात्र की पूर्ण परिस्थिति है। इसकी प्राप्ति के लिए पूर्णसत्ता का परानुग्रह अपेक्षित है। यथार्थ योग, महाज्ञान, अद्वय-स्थिति, वस्तुतत्त्व यही है। इस अवस्था में एक अखण्ड परिपूर्ण ब्रह्म विराजमान रहता है, जिस में सद्रूपी महाशक्ति का, चिद्रूपी माहाज्ञान का, आनन्दरूपी परम प्रेम का अद्वैतरूप में प्रकाश होता है। यहां व्यष्टि से समष्टि, समष्टि से महासमष्टि, महासमष्टि से अखण्ड का, सब प्रकार का आभासमान विरोध समाप्त होता है।

धारा वितस्ता की

डा० कृष्णा रैणा

मेरा मन उसी अनुभूति में खो जाना चाहता है। हवा शीतल है, बाहर वर्षा की रिमझिम ध्वनि, कुहरे की हल्की रेशमी परतें हवा के झोंकों के साथ हिल रही हैं। कुहरा धरती पर, वनस्पतियों पर और वृक्षों पर बरसता जा रहा है। यह धुन्धला वातावरण मुझे अपने अतीत की ओर ले जा रहा है जिससे मैंने अपने गीत पाये हैं। मेरी स्मृति बारह वसन्तों के पीछे चली जाती है जब मैं वितस्ता की धार देखा करती थी। खेलने और सैर करने के बहाने अपने आंगन से यह धार देखने में आनंद का अनुभव होता था और एक प्रकार की तृप्ति मिलती थी। इस धारा को देखकर मन कभी नहीं अघाता था। नदी के दूसरी ओर धोबी, बच्चे और नर-नारी अपने-अपने कार्य में व्यस्त दिखाई देते थे मानो यह धारा जीवन-क्रम को अग्रसर करने में प्रेरणा दे रही थी।

मेरे सामने जो यह वितस्ता की धारा बह रही है—कहीं पतली और कहीं चौड़ी होकर अपना रास्ता बनाती है, मदमस्त छपछपाती हुई किनारों को अपनी लपेट में लेकर बहे जा रही है। कभी गन्दली, कभी स्वच्छ कभी नीला परिधान बदलती हुई हमें दीखती है। वेरीनाग के स्रोत से निकलकर नवयौवना की भांति स्वच्छ और निर्मल है, उस स्वच्छ नाग का ऐसा निर्मल जल बाद में गन्दला भी हो सकता है, कल्पना नहीं की जा सकती। वेरीनाग के ही उद्यान में दोनों ओर से हरे मैदान के बीच की धारा शान्त और स्निग्ध है। यह बहती जाती है, आज और कल...कोई अन्तर नहीं। दिन-रात अनवरत रूप से बही जा रही है। सालों साल बीतते गये और यह सिलसिला चलता रहा, हमेशा के लिए चलता ही रहेगा।

वेरीनाग से श्रीनगर तक कहीं संकरी और कहीं अपना हृदय उदार रखकर यह आगे बढ़ रही है। जहां से मैं इस धारा को देख रही हूं वहाँ उसका ऐतिहासिक महत्व है क्योंकि मेरा नगर ही उसके दोनों किनारों पर बसा हुआ है। कान्वेंट के पास इस धारा में खुलापन है। एक ओर से बंड पर भिन्न प्रदेशों के सैलानी इसके सौंदर्य का पान कर रहे हैं, दूसरी ओर इसके दूसरे छोर से मैं इसकी शान्त गति का अवलोकन करती हूं। बंड की तरफ के हाऊसबोट, उनकी सजावट-सब सुन्दर है परन्तु मुझे प्राकृतिक सौंदर्य ही अधिक अपनी ओर खींच लाता है जिसमें कहीं कटाव-छटाव न हो, उसमें एक सहज सौंदर्य होता है और हर स्थल पर रचयिता रचना में ही घुल-मिल गया होता है। इसमें कृत्रिमता की कोई गुंजाइश ही नहीं रहती है। फिर जीरो के सेतु की कल्पना, वापस कुछ कदम पर प्राचीन खन्डहर, मूर्तियों के अवशेष एक इतिहास को जन्म देते हैं, एक तरफ से इतिहास का काल वैभव दूसरी ओर कला की बारीकी, बीच में यह धारा-यह तथ्य मुहावरे का रूप ले लेता है। एक जगह जमाव है, ठोस पदार्थ है, दूसरे में बहाव और तीसरे में सौंदर्यबोध—तीनों का मिश्रण। हम इतिहास को छोड़ नहीं सकते। हमारे साथ-साथ वह भी चिपटा है। इस विराट जनसमुदाय का सामाजिक और राजनीतिक जीवन काफी गतिशील रहा है फिर भी ऐसी धाराओं का अभाव नहीं जिन्होंने समाज को नवनिर्माण का स्वर दिया। सामाजिक व्यवस्था बदली और शुद्धरूप की मात्र कल्पना बनी रही। यह खण्डहर और मूर्तियों के टुकड़े हमें उस शुद्ध कालखण्ड का बोध कराते हैं जो कभी था, जो गौरव रहा होगा और आज एक खण्ड है, खण्ड के साथ इतिहास। इसमें भी यह धारा हमें संकेत करती है कि प्रक्रिया ही धारा है जो स्वयंमेव अपना रूप ले लेती है। इतिहास का पटाक्षेप भी धारा की गति का परिणाम है।

इस प्रदेश के लोग अपने सौंदर्य के लिए प्रसिद्ध हैं ही इनका सौंदर्य-बोध भी उतना ही महत्वपूर्ण है। यहां की कलाओं में उसका प्रतिबिम्ब उपलब्ध होता है। सुकुमार बेलों पर छोटी थिरकती अंगुलियां दिनभर इनमें सौंदर्य का रंग भरते नही अघातीं, स्वयं

इसके निर्माता इसके निर्माण में ही तृप्त रहते, इस धारा के किनारे अपने काम में अपनी कला को आत्मसात् कर देते हैं।

बीच का यह बहाव बढ़ता जा रहा है। न जाने इसमें कितना कुछ घुल-मिल जाता है, सारे शहर का पानी, नाले एक होकर वितस्ता का रूप लेते हैं उसी प्रकार जैसे रवींद्र की कल्पना में भारत महामानव समुद्र था। इस देश की विचित्रता किसी से छिपी नहीं। यहां के इतिहास और संस्कृति पर दृष्टि डाली जाये तो ज्ञात होता है कि यहां अनेकानेक जातियां आईं, शक, हूण, नाग, यक्ष, गंधर्व सभी ने इसके वर्तमान रूप को बनाने में योग दिया (हो सकता है कि कश्मीर के यक्षों का सम्बन्ध इसी यक्ष जाति से रहा हो) जैसे आज की सभ्यता,संस्कृति अनेक उपादानों का मिश्रण है वैसे ही मेरी यह धारा भी विशुद्ध धारा नहीं, इसमें बहुत कुछ मिलावट है। जहां यह धारा दो किनारों को अलग करती है वहीं पुलों से इसमें जोड़ पड़ जाता है। एक प्रहेलिका...नीचे जीवन की धारा बह निकलती है और पुलों पर आवागमन चलता रहता है। यह धारा किसी के लिए कभी रुकी नहीं है। यह जीवन भी कितना विस्तृत और गहरा है, कितना प्रवाहमान है, इसमें व्यक्ति की छोटी इकाइयां भी बह निकलती हैं केवल सेतु जोड़ता है। नदी मां है धारयित्री है और तारयित्री भी, यही बहा ले जाती है और यही अपने में समा भी लेती है। इसके प्रवाह में व्यक्ति असहाय भी हो जाता है। इसके ही जल से स्निग्ध भी। इसके जल-कण विश्रांति को हर लेते हैं परन्तु न जाने कब प्रवाह की एक लहर आकर मिटा दे या बहा ले जाये कुछ कहा नहीं जा सकता। जब कभी इस धारा में बाढ़ आ जाती है इसके दोनों किनारे खुल जाते हैं, इसमें किशतियों में रहने वाले लोग संत्रस्त हो जाते हैं पर कई-कई बार इसी का सामना कर उनके लिए यह घटना साधारण सी बन जाती है। एक बार वितस्ता बाढ़ में इतनी खुल गई थी कि हमारे आंगन में मल्लाह लोग आगये थे, रातभर वे लकड़ियां ठोंक-ठोंक कर अपनी नावों को बांध कर पहरा देते थे, उसी समय हमारे आंगन का आधा भाग भी बह चला था पानी का बहाव बड़ा तेज था, फेनिल जल लहरें मार कर दौड़ रहा था। उस क्षण मुझे इस

धारा से भय लगा था, इसके साथ कंकड़, पत्थर और छोटे-छोटे पौधे बह कर एक विचित्र ध्वनि उत्पन्न कर रहे थे। दूर से ही इसका भयानक स्वर आने लगा, ऐसा लग रहा था मानो यही मृत्यु की पहली पुकार हो। धरती को जीवनदान देने वाली यह धारा क्रूर रूप धारण कर गई। बाढ़ का पहला वेग समाप्त हो गया। इतने संघर्ष में उसका जल गंदला अवश्य हो गया था पर दोनों तटों को प्लावित कर यह धारा अंततः अपनी सीमा में आगई, इसका ज्वर शान्त हो गया और रात को तारे इसमें प्रतिबिंबित होने लगे, इसके बुलबुलों का नृत्य आरम्भ हुआ और मैं घण्टों वैसे ही इसे देखती रही।

मैंने कई रचनाओं की प्रेरणा का स्वर इसी धारा में सुना है। आज भी मुझे इस धारा का स्मरण आनन्ददायी लगता है। नदी के पार छायाओं का नर्तन अभी भी उत्सुकता पैदा करता है। तीन चीजों के प्रति मेरा बहुत आकर्षण रहा — चिनार, बुरांस और यह जेहलम की धारा। चिनार की कल्पना करने ही उसकी विशालता का ध्यान आता है। उसकी छाया में व्यक्ति सारे संतापों से निवृत्ति पाता है। चिनार के सूखे पत्तों में झपझप की ध्वनि मैंने बचपन में सुनी थी, पतझड़ में जब इसके पत्ते गिर जाते हैं बच्चे उन पत्तों की झपझप में खो जाते हैं चाहे वह चिनारबाग हो या कहीं और जहां भी इसके वृक्ष हों। निफूले इस पेड़ की विशालता देखते ही बनती है, इसका चौडा पत्ता कई कलाओं में अपना स्थान बना चुका है। कश्मीर से इतनी दूर शिमला में भी उच्च अध्ययन संस्थान में दो चिनार आमने-सामने बातें करते हैं। इन दोनों पेड़ों को अपने वतन से यहां आना पड़ा, अपने सगे सम्बन्धियों से अलग रहने का विरह इनसे सहा नहीं गया अतः इनका विकास अवरुद्ध होगया, इसलिए ये दोनों पेड़ इतने विशालकाय नहीं बन पड़े जितना कश्मीर में साधारण चिनार भी होता है। खैर मुझे चिनार यहां भी मिलता है अतः उसकी याद इतनी नहीं आती, रूप आकार चाहे जैसा भी हो चिनार मेरे सामने है।

K. SABHA AMEPHAL
LIBRARY
No..........
Date..........
JAMMU

प्रकृति सदा मेरे साथ—समीप रही है। कथू काव्यांन जो मैंने कई उपन्यासों और कहानियों में पढ़ा था उसे स्वयं देखा, पर्वत क्षृंखलाओं के वीच की वस्ती में स्वयं रहने का अवसर प्राप्त हुआ। यहाँ आजकल उस बुरांस का दृश्य देख रही हूं जिसका वर्णन निर्मल वर्मा ने वहुत किया है। चील, बन (बुरांस) [illegible] और कैथ के पेड़ों के बीच मेरा निवास मुख्य रूप से मुझे लिखने और सोचने को विवश करता है। अप्रेल के अन्तिम सप्ताह में समरहिल से चौड़ा मैदान तक का यह पर्वतीय मार्ग इसी बुरांस (रूडुनडांन) को लाल चादर से ढका हुआ मिलता है। एक दम लाल बुरांस अशोक के लाल पुष्प का स्मरण दिलाते हैं। मुझे बुरांस पुष्प का खिलना और मुरझाना भी एक नाटकीय व्यापार सा लगता है। बुरांस खिलता है तो एक दम लाल तेज़—विना महक के भी अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करता है परन्तु अधिक दिन नहीं रहता, जब पूरा खिल जाता है तो यह मार्ग इसी पुष्प से भर जाता है परन्तु कुछ ही दिनों में अपने सारे विकास के पश्चात् यह समाप्त हो जाता है। पुष्पित बुरांस को देखकर जितनी प्रसन्नता होती है उतना ही दुःख इसके समाप्त होने पर होता है। कम समय में भी इसका उपयोग व्यक्ति भिन्न-भिन्न रूपों में करता है और नये साल के लिए इसकी प्रतिक्षा में लग जाता है। इसी प्रकार जापान में भी एक पुष्प (स्नकुरा) होता है जो केवल दो सप्ताह ही खिलता है और फिर वृक्ष पत्तों से ढक जाता है। जापानी व्यक्तित्व और इस वक्ष की प्रकृति का वड़ा घनिष्ठ सम्वन्ध वताया जाता है।

मुझे अभाव उस धारा का ही खटकता है जो मेरे जीवन को प्लावित करती थी। प्राकृतिक सौंदर्य दोनों जगह है। कश्मीर और शिमला अपने-अपने महत्व की दृष्टि से महान् हैं। शिमला की पर्वत श्रेणियों में सरकती रेलगाडी में व्यक्ति इसके अन्तर्तम के रहस्य को जानने का प्रयत्न करता है, इसके हृदय को भेदता हुआ एक सिरे से निकलकर दूसरे सिरे तक पहुंच जाता है, ऊपर चढ़ता हुआ व्यक्ति आकाश को छूने के स्वप्न को साकार करना चाहता है। घने जंगल, स्वच्छ माल रोड। समरहिल से सूर्यास्त का दृश्य, बुरांस की

बहार, ठण्डी वायु व्यक्ति को अपने जादू में ले लेती है। शाम को यह स्थान नववधू की भांति ज़री वाली साड़ी में ढंक जाता है, इसमें सौंदर्य है, लालित्य है पर स्निग्धता नहीं। मेरे विचार में यह सूखा सौंदर्य है। जब तक प्रेम की धारा से व्यक्ति प्लावित न हो सौंदर्य अपना महत्व खो देता है। यही बात यहां भी है। वर्षाऋतु में मेघमालाएं नीचे तक आकर एक फॉगी वातावरण बना देती हैं परन्तु छूकर छोड़ देती है। ऐसा अक्सर गुलमर्ग में भी अनुभव किया जाता है पर पहलगांव की रसधारा की ध्वनि का अपना महत्व है। यह जेहलम की धारा आज मुझे ही आकृष्ट नहीं करती, प्राचीन काल से ही इसे अपना महत्व मिला है, कल्हण ने अपने ढग से इसका वर्णन किया है। प्रसाद ने सिकन्दर के संदर्भ में इसका प्रसंग खोजा है। यही धारा संगम बनकर मिलन का सूत्रपात भी करती है। इस धारा के हृदय की धड़कन पहचाननी हो तो नौका को अपनी गति से बहने देना चाहिए, बहती रहेगी अविराम गति से, कहीं-कहीं सेतु आयेगा वहां प्रयत्न करना पड़ेगा। इस सेतु से कहीं टकरा न जाये, नदी का बहाव सेतु का जोड़ और नौका की अपनी गति। इस धारा की गम्भीरता को देखना कठिन है, वर्णन के लिए हम शब्द जुटा लें पर उस गहनता का अनुभव कठिन है। उसी प्रकार जैसे जीवन को पहचानने के लिए जीवन के खुले क्षेत्र में आना आवश्यक है जैसे, आकाश के विस्तार को देखने के लिए खुले वातावरण में आना आवश्यक है इसे खिड़की के चकोर सिमत में कैद करना कठिन है बाहर—अपने से बाहर—विराट नीलिमा और विस्तार को मापना असंभव है उसे कल्पना में साकार किया जा सकता है, उसे आंखों में उतारा जा सकता है उसी प्रकार धारा के साथ बहना आसान है, हम इसकी ऊपरी तह पर तैर सकते हैं परन्तु इसके तल की गम्भीरता को वही परख सकता है जो इसमें डुबकी लगाये। इस डुबकी लगाने में खतरे भी हैं इसमें व्यक्ति सर्वांग भी डूब सकता है, स्पन्दहीन, अनुभवहीन, बोधहीन मृत्यु भी भोग सकता है। फिर उसमें क्या जानना शेष होगा ? वह तो एक अन्त का होना है। इस धारा के साथ बहना ही सचाई है। गहराई जानना भी एक प्रकार का यथार्थ

है पर वह धारा में एक अवरोध डालना है। बुलबुला बनता और विलीन हो जाता है परन्तु धारा वही की वही है। अतः बहने देने की प्रक्रिया जितनी सहज है उतनी ही कठिन भी। यथार्थ का सामना उसका भोग और बहाव यही जीवन की गति का क्रम है।

यह धारा जैसे अपना रास्ता स्वयं बनाती है स्वच्छन्द और स्वतंत्र रूप से अपना आकार ग्रहण करती है। अपने साथ अनेक संदर्भ समेटती हुई आगे बढ़ती है, तटों को प्लावित कर अपना रुख बनाती और बदलती है, शान्त से शान्त और भयंकर से भयंकर का आभास देती है वैसे ही यह जीवन धारा अपनी गति से प्रवाहित होती है। इस प्रक्रिया में उलझनें और अवरोध आते रहते हैं परन्तु प्रक्रिया से गुजरना ही पड़ता है। धरती के नीचे अंकुर कितना ही गहरा क्यों न हो समय आने पर उसकी जीवन शक्ति फूट पड़ती है और धरती को दो पाटों में विभक्त कर यह नगण्य अंकुर पौधे के रूप में फूट पड़ता है। यह सम्पूर्ण जड़शक्ति के प्रति इसका विद्रोह है। घास को कितना भी पैर से कुचल दो पुनः उठ खड़ी हो जाती है। नदी की धारा पर कितने ही बांध बनालो, इसके रुख को बदला जा सकता है, इसकी शाखाएं और उपशाखाएं बनाई जा सकती हैं परन्तु इसे बन्द करने से इसका जल उछल कर, टकराकर पुनः अपना रास्ता बनाता है। वैसे ही जीवन की धारा में अवरोध डालने से कई कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। वितस्ता मेरे लिए यही धारा है जो बहे जा रही है, जो प्रेरणा देती है, जो मुझे सौंदर्यबोध कराती है, अपने क्रम से बांध देती है और प्लावित करती है। वितस्ता की पुत्री को वितस्ता की धारा प्लावित करती रहेगी।

आधुनिक साहित्य में वर्तमान का आग्रह

प्रो० सुभाष भारद्वाज

विश्व भर में आज तक जिस किसी साहित्यिक रचना को ख्याति, प्रतिष्ठा अथवा लोकप्रियता प्राप्त हुई है, उसका मानवीय जीवन के सन्दर्भों के साथ, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। विगत कुछ दशक पूर्व तक, विश्व के लगभग सभी जगह के साहित्यकारों में वर्तमान के ऊपर अनदेखे अतीत अथवा अनिश्चित भविष्य के रूप में परोक्ष को लादने की प्रवृत्ति रही है, और इस तरह आज तक के लगभग समूचे विश्व-साहित्य के ऊपर अतीत और भविष्य बुरी तरह से हावी रहा है, और इस सब के पीछे वे सभी तद्देशीय एवं तत्कालीन शक्तियां सक्रिय रही हैं जो सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में साधारण जन का नेतृत्व करती थीं। और इस तरह अतीत तथा भविष्यत् के रूप में परोक्ष की यह प्रभुता साधारण जन को हमेशा भुलावे में डाल कर उसका युगों युगों तक शोषण ही नहीं करती रही बल्कि उसने उसे वर्तमान के विरुद्ध सिर उठाने का अवकाश ही नहीं दिया। उसने तो उसे अपने बीतते हुए क्षणों को जी भर देख लेने तक की भी छूट नहीं दे रखी थी। और वह बेचारा साधारण जन यदि कभी भूले से, आंख बचा कर उन क्षणों का कोई दर्दनाक टुकड़ा देख लेने में समर्थ हो जाता तो समाज के वे नेता उस बेचारे के सिर पर धुंधले आदर्शों का भारी सा गठ्ठर लाद कर, सुनहले भविष्य का कोई खूबसूरत झांसा उसकी मुट्ठी में थमा कर उसे अपनी राह हांकते हुए ले जाते। और इस तरह समाज के इन सबल निर्देशकों के चरणों पर अपने लहू की बूंद बूंद गिराते गिराते

इस बेचारे साधारण जन ने आदर्शों की चकाचौंध में फंसकर युगों पहले इनके सम्मुख आत्मसमर्पण कर रखा था।

लेकिन अपने चारों ओर इतने ऊंचे ऊंचे और विकट एवं दुर्गम हिमालयों के रहते भी साहित्यकार अपनी लेखनी को थोड़ा बहुत इधर उधर घुमा-फिरा कर साधारण जन के साथ साथ आंगन खेलने, कदम कदम चलने और करवट करवट सुस्ताने के यत्न अवश्य करता रहा है। यह दूसरी बात है कि उसकी ऐसी कृतियां थोथे आदर्शों के मुलम्मे से कभी मुक्त नहीं रहती थीं, जिन्हें समय के प्रभुओं ने एक सार्वजनिक अनिवार्यता का रूप दे रखा था। कभी उसके दुःख में उष्णतम उच्छ्वास भी छोड़ता रहा है, भले ही इसके आगे उसे अपनी लेखनी का मुंह बलात् बन्द करने के लिये मजबूर होना पड़ता था। वह युद्धभूमि में इसके समरोद्यत भुजदन्डों में अपनी वाणी द्वारा उत्साह एवं स्फूर्ति भी भरता रहा है, भले ही ऐसा करके वह कुछ इने गिने नररूपधारी भेड़ियों की रुधिर-लिप्सा को शान्त करते हुए इतिहास के ग्रन्थों में खून से भरे पन्ने जोड़ने का भागी बनता रहा हो। वह उसकी शृंगारिक भावनाओं में सुरुचि भरने का यत्न भी करता रहा है, यह बात और है कि वह अपनी लेखनी को अपनी इच्छानुसार कभी भी नहीं चला पाया। सृष्टि अथवा स्रष्टा के गहनतम रहस्यों को खोलने में भी वह साधारण जन का अंतरंग सहयोगी रहा है, भले ही वह उसे ऐहिक दुखों से एक बार भी मुक्ति दिलाने में समर्थ नहीं हो पाया। वह उसके संग संग देवालयों, पूजागृहों और तपोभूमियों में बैठकर इसकी श्रद्धा एवं आस्था का स्वरूप निश्चित करता रहा है, यह दूसरी बात है कि कालगति के साथ साथ इस सब पर से साधारण जन की आस्था बराबर टूटती रही है, उसका विश्वास बराबर मरता रहा है।

लेकिन बीसवीं सदी को पार करते करते इन मानव कल्याण के झूठे दावेदारों द्वारा साधारण जन के आसपास खड़े किये गये हिमालय इतने ऊंचे हो गये कि चलने के लिये उसके आगे या पीछे एक इंच जमीन भी बाकी नहीं रही। आज उसके चहुं ओर ऐसा

विकट अंधकार छाया है जैसा उसे अपने युगों और कल्पों लम्बे जीवन में पहले कभी दिखाई नहीं दिया था। सभ्यता के इस विस्तार ने तथा विज्ञान के इस चरमोत्कर्ष ने जहां लाखों लाखों मील दूर बैठे मानव को पास पास ला बिठाया है वहां इस सबने एक ऐसे सार्वभौमिक अंधड़ को जन्म दिया है जिसके कारण हर मनुष्य अपने ही व्यक्ति को अनेक टुकड़ों में कटा हुआ महसूस कर रहा है। इसका सहस्रों वर्षों का अर्जित ज्ञान, इसके स्वेद-रक्त द्वारा सुस्थापित एवं सुप्रतिष्ठित मूल्य, मान्यताएं और आदर्श अपनी अर्थवत्ता खोकर तमकवलित हो चुके हैं। तेल, विद्युत और परमाणुशक्ति जैसे ऊर्जा एवं प्रकाश के विपुल साधनों को अपरिमेय मात्रा में जुटाकर भी इसके चतुर्दिक् घना अंधेरा है। टेलीफोन, टेलीग्राफ, माईक्रोवेव, रेडियो, टेलीविज़न तथा दूरसंचार उपग्रहों जैसे रोमांचक संचार यंत्रों का निर्माता होकर भी यह अपने पड़ोसी तक की आवाज़ भी नहीं सुन सकता। रेल, मोटरगाड़ी, ध्वनि की गति से भी द्रुतगामी विमानों, अणुशक्ति-चालित जलपोतों एवं स्पूतनिक जैसे कल्पनातीत वाहनों का स्रष्टा होकर भी वह अपने ही कक्ष में बैठे व्यक्ति से भी कोसों दूर है। तोप, टैंक, युद्धपोत, अणुबम तथा पल भर में ही शत्रुदेश को भूमिसात् कर डालने की क्षमता वाले अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों से लैस होकर भी वह आज अपने आपको पाषाणयुग के मानव से भी कहीं अधिक असुरक्षित महसूस कर रहा है, और इस तरह आज वह विसंगतियों के इस घटाटोप में अनिश्चित भविष्य में उगने वाले किसी अनिश्चित प्रकाश क्षमता वाले सूर्य का आकार स्थिर करने की झोंक में अपनी जिन्दगी को सांस सांस घसीटता चला जा रहा है। पिछले जमानों में उगे सूर्यों की अनेक रोमांचक कहानियां उसने पढ़ी अवश्य हैं लेकिन अब वह जान गया है कि विस्मृत संदर्भों में प्रकाश बांटने वाले उन सूर्यों का गुणगान करने से उन्हें अस्ताचल के गर्त्त से निकाला नहीं जा सकता। वह जान गया है कि यदि उन पुराने सूर्यों में शाश्वतता होती तो वे कभी अस्त न होते। उनकी गरिमा न तो अब उसकी जमी हुई शिराओं को गरमाने में

भीतर पुंजीभूत होती हुई धुएं की यह घुटन उसकी नैसर्गिक संघर्ष-शीलता को अंदर अंदर से चाटे जा रही है। इसी कारण से इस अदम्य वेदना, इस हताशा और इन ढेरों ढेरों विसंगतियों के बीच आज के साहित्यकार के लिये कुछ भी कहना कठिन हो रहा है। वह कह जरूर रहा है, परन्तु उसे अपने कहे पर भरोसा नहीं रहता। हर शब्द कहने से पहले वह सोचता है कि कोई उसे सुनने को तय्यार भी होगा कि नहीं? यदि वह इतिहास के किसी संदर्भ से कोई श्रेष्ठ दृष्टान्त अथवा कोई उपयोगी उदाहरण दोहराता है तो उसका पाठक अपने कानों में उंगलियां दे देता है। और यदि वह भविष्य का कोई कल्पित चित्र उसके सन्मुख प्रस्तुत करने का यत्न करता है तो वह आंखें मूंद कर दूसरी करवट हो जाता है। यदि वह उसके वर्तमान के रिसते घावों पर परोक्ष का ख्याली मरहम लगाने को तत्पर होता है तो वह भाग खड़ा होता है।

अणु अणु में व्याप्त इस अंधकार की सब से बड़ी विडम्बना यह है कि आज हर कोई ठीक अपने आंगन के बीच में से उगने वाले सूर्य से रोशनी ग्रहण करना चाहता है। आज मानव-सागर के हर बिन्दु की चिन्तन दिशा यही है। लगता है ज्ञान, विज्ञान और इस फली फूली सभ्यता के विकास ने उस के अंग अंग को भासमान करते हुए भी उसकी आखों की ज्योति छीन ली है। भीषणतम अस्त्रों से लैस कर के भी उसे कायर, अशक्त और पंगु बना दिया है विपुल एवं विविध खाद्य सामग्री का उत्पादन करके भी उसे भूखा रहने पर विवश कर रखा है। श्रेष्ठतम परिधान जुटा कर भी नंगा रहना उसकी नियति बना दी है।

ऐसी परिस्थिति में साहित्यकार का कर्तव्य तो यह होना चाहिये था कि वह मनुष्य को अपनी आंखें लौटाने, उसके अपाहिज अंगों में नये अंग जोड़ने, विपुल खाद्य भंडार में से मन चाहे पदार्थ जुटा कर अपना पेट भरने तथा नव्य-भव्य वसनों से अपना तन ढांपने का मार्ग खोजने में उसकी सहायता करता। पर आज साहित्यकार ऐसा करने में अपने आप को असमर्थ पा रहा है। ऐसा क्यों? कारण स्पष्ट है। साहित्यकार की कलम पर से अभी

तक परोक्षवादियों के प्रबल हाथों द्वारा चढ़ाया गया मुलम्मा पूरी तरह से उतर नहीं पाया है। और उस मुलम्मे को और अधिक गाढ़ा करते चले जाने वाली शक्तियां भी अपने आप को नये नये रंगों और मसालों से समृद्ध करने में लगी हुई हैं। यही कारण है कि आज का साहित्यकार कुछ भी नया अथवा नये जैसा न कह कर मानव ही के सूरदासत्व की पीड़ा से कराह रहा है। उसके पंगुत्व एवं उसकी कापुरुषता पर खीझ रहा है तथा उसकी विवशता पर तिलमिला रहा है। क्रान्ति के किसी पांचजन्य को बजाने का दम आज के साहित्यकार की छाती में नहीं। वस्तुस्थिति तो यह हैकि आज का मानव, उसके साथ चिपका उसका ज्ञान, विज्ञान, उसे प्रतिष्ठित होने का झूठा एहसास देने वाली, उसके आस पास फैली सभ्यता तथा अतीत से निरपेक्ष एवं भविष्य से निराश, विसंगतियों से आक्रान्त वर्तमान बताई जाने वाली रोशनी की हर संभावना को शंकालु दृष्टि से देखता है। इसी लिये आज का साहित्य भी प्रसव-पीड़ा की अदम्य यातना झेल रहा है। किन्तु यह प्रसव पीड़ा कब तथा किस आकार के रश्मिराट् को जन्म देगी यह बताना तो दूर, अभी सोचना भी मुश्किल है। लगता है कुछ भी करने से पहले साहित्यकार को आज के मानव के हताश हाथों पर विश्वास की घनी परत चढ़ानी होगी।

लेकिन साहित्यकार यह सब नहीं कर पा रहा। क्योंकि आज के पाठक के लिये, और इसी कारण से आज के साहित्यकार के लिये अपने समांतर चल रहे वर्तमान से एक इंच भी इधर या उधर गर्दन को घुमा कर देखना असंभव है। दोनों ही के लिये, फिलहाल, केवल यातना है—विकट प्रसव-यातना। केवल खीझ है, नये सूरज के उदय में लम्बे विलम्ब की खीझ। केवल रोष और आक्रोश है, अपनी नितांत दयनीय स्थिति पर, अपनी दुर्बलता और नपुंसकता पर। इसी कारण आज का साहित्यकार वर्तमान के कोल्हू के घेरे का चक्कर काटते काटते परिवेश में व्याप्त खीझ, हताश, कुंठा, रोष एवम् आक्रोश के उद्गिन से थक कर, अपने पाठक ही की तरह, कभी कभी तो ऊंघने लगता है और कभी सट-

समर्थ हो रही है और न ही भविष्य में उगने वाले किसी तमहन्ता सहस्त्रांशु का नख-शिख ही उसकी दृष्टि में स्पष्ट हो रहा है। इस तरह आज वह न तो अतीतवादी ही रह गया है और न भविष्यकामी ही। उसकी यह धारणा भली भांति पुष्ट हो चुकी है कि जब गुज़रा हुआ कल उसे ठेंगा दिखाकर चला गया है तो इसका भी क्या भरोसा कि आने वाला कल उसे देने के लिये कोई श्रेय अथवा प्रेय लेकर आएगा। यही कारण है कि वह आज भूत और भविष्यत् से पूर्णत: विच्छिन्न होकर केवल वर्तमान का होकर रह गया है। और वर्तमान के प्रति उसका यह आग्रह उसे किसी भी कीमत पर अपने 'स्व' को सुखमण्डित करने के लिये उत्तेजित कर रहा है। और अपने इस 'स्व' की चाबुक की मार से बदहवास होकर वह आपाधापी के इस अंधड़ में दूसरों के मुख से ग्रास छीनकर खाने तथा दूसरों के कपड़े उतार कर पहनने की होड़ में लगा है। इसी होड़ में माता पिता, भाई बहन, बेटा बेटी, पति पत्नी तथा मित्र एवं पड़ोसी की सभी परम्परापुष्ट मर्यादाएं तथा मान्यताएं छिन्न भिन्न होकर रह गई हैं। कन्फ्यूज़न की इस घनी धुंध में आज का साहित्यकार इतना आतंकित हो गया है कि वह अपनी परम्परागत ज्योतिषाचार्य वाली भूमिका को निभाने में स्वयं को असमर्थ पा रहा है। वह आज के जागरूक मानव के सन्मुख किसी स्वर्णयुग की भविष्यवाणी करने का दु:साहस नहीं कर सकता। वह किन्हीं नये आदर्शों के निर्माण का जोखिम भी नहीं उठा सकता, क्योंकि उसका पाठक, जमीन के अन्दर दूर गहरे तक जमे हुए, सनातन एवं शाश्वत कहे जाने वाले, पूर्व प्रचारित आदर्शों की ध्वंस लीला को अपनी आंखों से देख चुका है। साहित्यकार उसे पलायन का विकल्प सुझाना भी व्यर्थ समझता है, क्योंकि उसने वैराग्य एवं संन्यास ग्रहण करके भी देख लिया है। वह भली भांति जानता है कि आज, पहले तो, कोई सिद्धार्थ उसके हेतु अपना कपिलवस्तु का राज्य एवं अपनी यशोधरा और राहुल का परित्याग करने को ही राज़ी नहीं होगा। और यदि ऐसा हो भी गया तो भी इस बात का क्या भरोसा है कि उसके द्वारा सुझाया गया

मार्ग उसे व्याप्त यातना से त्राण दिलाने में समर्थ हो सकेगा। आज के साधारण जन को उसके दारुण अनुभवों ने इतना शंकालु एवं सतर्क बना दिया है कि वह अब किसी गाण्डीवधारी अर्जुन की खातिर, किसी अक्षौहिणी में भरती होकर अपना रक्त बहाने को तय्यार नहीं। आज वह बलिदान के नाम पर विनाश-यातना झेलने अथवा विजयश्री के लालच में आत्मग्लानि में गलने के लिये हरगिज़ हरगिज़ प्रस्तुत नहीं है। उसकी यह आशंका विश्वास में बदल चुकी है कि भविष्य में लड़े जाने वाले किसी महाभारत में यदि उसने अपने भुजबल द्वारा कोई हस्तिनापुर जीत भी लिया तो उस बार भी कुछ इने गिने पार्थपुत्र ही उसे आपस में बांट लेंगे। अनुभवों के ज़हर ने उसके सभी विश्वासों और आस्थाओं को धराशायी कर दिया है। देश अथवा विदेश, शहर अथवा गांव तो दूर वह तो अब अपने पड़ोसी तक के लिये भी कोई जोखिम उठाने को तय्यार नहीं है। और अराजकता की इस अंधियारी में यदि कभी कोई साहित्यकार उसे कुछ न कुछ कर गुज़रने की सलाह दे बैठता तो वह जड़ और मौन बना रहता है। आज का साहित्यकार, इसी कारण से, अपने लेखन के इतिहास के सबसे बड़े संकट से जूझ रहा है। अपने पाठक की मूक और जड़ भंगिमा में वह स्पष्ट पढ़ रहा है, "मैं एक ऐसा प्रश्न चिह्न हूं, जिसका उत्तर तुम्हारी कलम से नहीं बन पड़ेगा।" आजका साहित्यकार प्रत्यक्ष देख रहा है कि अपने परिवेश कीं कचोटों से आक्रान्त आज का मानव समाज, राजनीति, धर्म, शासन, व्यवस्था, देश, प्रांत, ईश्वर आदि सभी को कोस रहा है। किन्तु खुले में नहीं, मन ही मन में, या ज्यादा से ज्यादा बड़बड़ा कर। वह जोर से नहीं बोलता। और इस तरह कभी तो वह सारी खीझ अपने ही ऊपर निकाल कर अपने आपको डरपोक, अशक्त, नपुंसक आदि कह कर अपने आपको गालियां देते हुए दिन में कई कई बार आत्महत्या कर लेता है। और फिर खुलकर बोलने का कोई लाभ भी तो उसे दिखाई नहीं देता। इस तरह मन ही मन में उठने वाले धुएं की फांक मात्र भी बाहर निकालने से वह कतराता है। भीतर ही

पटा कर अंट संट बोलने लगता है। आज तो वह अपने पाठक के परिवेश, उसके कठोर वर्तमान तथा उसकी घनी पीड़ा का उद्गाता है। सभी परम्पराओं को दफना कर, कल्पनाजगत से मुंह मोड़ कर वह जैसे तैसे चल तो रहा है, मगर, शायद कहीं पहुँचने के लिये नहीं, अपने पाठक को कहीं ले जाने के लिये भी नहीं। वह तो सिर्फ बीतते हुए क्षणों की समीक्षा करने में लगा है, उसकी चीर-फाड़ करने में व्यस्त है। आज उपदेशक की भूमिका उसे असंगत लग रही है। इसी लिये वह वस्तुस्थिति का अणुवीक्षणात्मक अध्ययन करने में लगा है। आज के जीवन की भांति आज के साहित्य में, जो क्षण बीत गया है, वह अर्थहीन हो चुका है। जो क्षण आने वाला है, उस पर उसे आस्था नहीं। उस के सामने केवल एक मजबूरी है, बीतते हुए क्षणों के साथ जुड़े रहने की मजबूरी।

लेकिन ऊपर के विवेचन से एक बात अवश्य साफ हो जाती है कि आज का साहित्यकार अपने पूर्वजों की तरह दूसरी शक्तियों द्वारा बांधी हुई सीमाओं में बंधने अथवा उनके द्वारा खींची गई लकीरों पर चलने को तय्यार नहीं। वह सचेत है, सतर्क है, जागरूक है उन शक्तियों के प्रति, जो उस की कलम पर भूत और भविष्यत् के रूप में परोक्षवादिता का मुलम्मा चढ़ाने में सतत यत्नशील हैं। वह अपनी कलम के साथ अवश्य ही गतिशील है, भले ही उसे अपने उदयाचल तक पहुँचने में कितना भी समय क्यों न लगे।

सौन्दर्यबोध

डा० गंगादत्त 'विनोद'

सौन्दर्यबोध प्राणी की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इस में उत्तेजना भरा आकर्षण है, जो वरबस अपनी ओर खींच लेता है। जड़ प्रकृति तो नहीं चेतन प्रकृति में मनुष्य से लेकर पशु पक्षी तक इस आकर्षण का शिकार हैं। यह प्रवृत्ति कोई अपने से दूर कर ले ऐसा होना असम्भव क्या आज तक इस का कोई उदाहरण भी नहीं देखा गया। वीतराग और योगियों की बात इस तथ्य का अपवाद हो सकती है, किन्तु सांसारिक प्राणी इस सरस एवं रागादमक मनोभाव से दूर रहें ऐसा असम्भव है। प्राणी के अन्तर्मन में सौन्दर्यानुभूति की वासना बीज रूप में अवस्थित रहती है। यह स्वार्थभाव अनुभाव के अवतीर्ण होने पर अवश्य उद्बुद्ध होता है। चेतन प्राणियों में यह वासना रहती ही है किन्तु कभी कभी अचेतनों में भी इसके दर्शन किये जाते हैं। सूर्य के उदय पर कमल खिल उठता है। रात की रानी लता रात के सौन्दर्य में विकसित होती है और स्त्री के पाद प्रहार से अशोक वृक्ष भी पुष्पित हो उठता है। क्या यह जड़ पदार्थों में सौन्दर्यानुभूति नहीं? समुद्र पूर्ण चन्द्र के सौन्दर्य पर ज्वार भाटे के रूप में उद्वेलित हो उठता है, यह भी जड़ प्राणियों का सौन्दर्य पर विमुग्ध होने का एक उदाहरण है। यह सौन्दर्य-लहरी जगत पदार्थों में विविध रूप लेकर अवस्थित रहती है। प्रकृति और मानव दोनों में इस का निवास भिन्न रूप लेकर विद्यमान रहता है। प्रकृति के सौन्दर्य में वासना का संचार नहीं हो कर उस में दैवी आभा या ईश्वरीय कलाकृति का आभास मिलता है। मानव का सौन्दर्य दोनों प्रकार का है। उस में मनुष्य हृदय की निजी प्रकार की सम्वेदनाओं के

कारण उस के दो रूप बन जाते हैं। मांसल सौन्दर्य और महान् व्यक्तित्व का सौन्दर्य। मांसल में वासना का पुट रहता है और दूसरे में गुणों के प्रति आस्था-जन्य श्रद्धा प्रयुक्त आकर्षण किन्तु अधिकतर मानवीय चारुता में वासना और अंगों के लावण्य के कारण बाह्य और स्थूल सौन्दर्यबोध की प्रवृत्ति रहती है। रूप, तारुण्य, अंगों की सुन्दर गठन, तीखे नक्ष, चमकीले और घुंघराले समृद्ध केश, मोटी आंखें, रंग गोरा इत्यादि कुछ शारीरिक सुषमा के प्रकाश-कण दर्शक पर अपना जादू सा काम कर जाते हैं। उस मादक प्रभाव द्वारा दर्शक का अन्तस्तल विमूढ़ होकर उसी में खो जाता है। यह प्रभाव एक ऐसा सुख है जिस का नशा मानव की ऐन्द्रिय चेतना को तिरोहित करता हुआ स्वयं उस पर हावी हो जाता है। सौन्दर्य बोध की यह ऐन्द्रिय और स्थूल प्रवृत्ति एक साधारण व्यक्ति से लेकर चोटी के व्यक्ति तक पहुँची हुई है। शूरवीर, देश भक्त, कलाकार, समाज सेवी, योगी, पण्डित, मजदूर, किसान, किशोर, युवक, बूढ़े आदि सब प्रकार के मनुष्यों के हृदय पर इस का प्रच्छन्न राज्य है। यह बोध इतना प्रबल है, जो राजनीति का चक्र बदल सकता है, साम्राज्य का दौर परिवर्तित कर सकता है और संसार में अपने ढंग की क्रान्ति करता हुआ दुनियां के भविष्य को अपना मोड़ दे सकता है। बड़े बड़े राष्ट्र के कर्णधारों पर जब इस का प्रभाव पड़ता है तो सर्वव्यापी नीति निर्धारण में जो होना था, उस से कुछ नया हो जाता है। ध्यानस्थ योगी के समक्ष बनी इस सौन्दर्य प्रकाश पुञ्ज के आविर्भाव पर नई उथल पुथल होने लगती है। कभी तो यह विजय पा लेती है कभी योगी इस पर चढ़ बैठता है किन्तु अधिकतर इसी की जीत के उदाहरण संसार में प्रचलित हैं। यह क्या जादू है, इन्द्र जाल है, इसका निर्णय नए काम शास्त्र के आचार्य फ्रायड भी नहीं कर पाए। प्राचीन आचार्यों ने इस मांसल-प्रकाश को काम का अग्रदूत कह कर इसे मत्त हस्ती की उपमा दी है। विषधर सांप भी कहा है। सांप के डसने पर शरीर में विष फैल जाता है, काम रूपी सांप का विष भी इसी प्रकार मनुष्य की चेतना को बिमूढ कर

देता है। नारी-सौन्दर्य इसी रूप में पुराने युग में देखा जाता रहा है, जिस में सौन्दर्यानुभूति तो थी लेकिन वासना प्रवृत्ति से पूरित ऐन्द्रिय सुखों की बलवती पिपासा भी इस में कम न थी। कवि लोगों ने इस ललित अनुभूति के उद्‌गार शब्दों में बहाए अवश्य हैं किन्तु उनकी दृष्टि भी नारी लावण्य के विषय में पूर्ण आदर्श और दिव्य रही हो, ऐसा कहा नहीं जाता। हां उन में इस लावण्य सम्बन्धी अंग प्रत्यंगों के वर्णन में नारी का वासना पूर्ण रूप जहां उभरा है वहां इस ईश्वर प्रदत्त कलात्मक सौभाग्य के मूल में प्रशंसा के भाव भी छिपे हुए हैं। किन्तु नारी को मानवी की सीमित परिधि से बाहर नहीं लाया गया। वास्तव में मध्यकालीन साहित्य से चल कर रीति काल तक नारी के प्रति कवियों का यही दृष्टीकोण रहा है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह सौन्दर्य बोध नहीं है। कालिदास इन्हीं कवियों की श्रेणी का प्रेम और सौन्दर्य कवि के रूप में विख्यात है। हिन्दी साहित्य के रीतिकाल के श्रृंगारिक कवि केशव, मातिराम आदि भी परम सौन्दर्यबोधी कवि माने जाते हैं। किन्तु वे इसी क्षेत्र के हैं, जिस का वर्णन ऊपर किया गया है।

दूसरा सौन्दर्य बोध प्रकृति के सम्बन्ध में है। प्रकृति की सुन्दरता में वासना और मांसल लावण्य के उपयोग की तृषा नहीं है। जब कभी कवि प्रकृति की सुरम्य छटा अपने रूप में लहराती हुई देखता है, उसके अन्तस्तल से अनुराग मिश्रित आत्म-विभोरता भावुकता की स्थिति में उमड़ आती है। वन प्रदेश के हरे भरे पर्वतों से चांदी के घोल सा पानी लेकर कल कल करते झरने शिशु की भांति जब उछलते कूदते नीचे आते हैं, उधर सुगन्धित वायु के झोंके, पक्षियों के कलरव, सूर्य की किरणों का पर्वतीय हरियाली में प्रतिबिम्ब, अलौकिक शान्ति और सौन्दर्य की छटा आदि देख कर कवि वासना और संसार के सुख भोग तथा विषय परिस्थितियां सब भूल कर सौन्दर्य विमूढ़ हो जाता है। न केवल प्रकृति का सुरम्य कलेवर ही अपितु उसके अन्तस्तल पर स्वर्गीय सौंदर्य की छटा का चित्र उभरने लगता है। वह प्रकृति को अनुपम

सुन्दरी का रूप देकर उस के नख-शिख चित्रण अथवा शारीरिक सौन्दर्य पर अलंकारिक भाषा में कल्पनापूर्ण चित्र सजाने लगता है। कालिदास ने इसी आत्म विभोरता में कुमार संभव के प्रथम सर्ग में हिमालय का चित्रण किया है। मेघदूत में भी कवि का ऐसा ही सुन्दर वर्णन है। संस्कृत के अन्य कवियों ने प्रकृति के गहरे और भावुक चित्रण किये हैं। बाण, माघ, हर्ष, भवभूति आदि ने ऐसा अधिकतर किया है।

हिन्दी कवियों के प्रकृति चित्रण शुरू से चलते आए हैं किन्तु इस युग में निराला, पन्त, महादेवी वर्मा आदि का नाम इस दिशा में विशेष रूप से लिया जा सकता है। पन्त जी तो मुख्य रूप में हैं ही प्रकृति के सुकुमार कवि। इन्हों ने इस सौन्दर्य का कोमल पक्ष ही लिया है। अधिकांश छायावादी कवि सौन्दर्य बोध के कुशल कलाकार रहे हैं। सर्व प्रथम जयशंकर प्रसाद प्रकृति के सच्चे प्रेमी थे। इन्होंने सम्वेदनात्मक चित्रण तथा चित्रात्मक वर्णन अधिक किया है। पन्त जी ने प्रकृति को आलम्बन मान कर उसके चित्रण में अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय दिया। प्रकृति का विराटरूप देख कर उस में अभिसार सम्बन्धी संकेतों के भरने में कवि का अद्‌भुत सौन्दर्य बोध उद्‌भासित हुआ है। उसे तारों से, लहरों से, समुद्र के घोर गर्जन से तथा बिजली की चमक से प्रेमी के संकेत मिलते हैं।

निराला जी ने तो सायंकाल की लालगी को ही स्वर्गीय सुन्दरी का रूप दे डाला। जिसकी लाल साड़ी है, अन्धकार के केश कलाप में तारे रूपी फूल जड़े हुए हैं। वह धीर गंभीर और सौन्दर्य की गरिमा से बोझिल होकर आकाश से धीरे धीरे उतर रही है। सौन्दर्योपासना और ललित पदार्थों के प्रति पिघल जाना मानव हृदय का गुण समझ लीजिये या कमजोरी किन्तु यह तत्व सब प्राणियों में पाया जाता है। सांप और हिरण नाद सौन्दर्य से विमूढ़ होकर दूसरों की पकड़ में आ जाते हैं या जीवन खो देते हैं। पतंगा दीपक की सुन्दरता पर मर मिटता है, चकोरी चन्द्रमा समझकर अंगारे को चबा जाती है। ऐसा कोई तो तत्व है इन सुन्दर वस्तुओं

में जो पाषाण हृदय को भी पिघला देता है। यह सौन्दर्य चित्र में, नाद में, प्रतिमा में, नारी में, युवक में और कई एक सुन्दर पशु पक्षियों में भी निवास करता है। प्रकृति तो इसका घर है और फूल ही अपने सौन्दर्य से बड़ों बड़ों को विमूढ़ कर देने में पर्याप्त है, तो फिर कविता के सुन्दर पद और भी मानव हृदय को झकझोर देते हैं। प्राणी के अन्दर वासना की लहर जब उछलती है तो वह सौन्दर्य-विह्वल होकर हृदय की सब जटिलताएं भूल जाता है। नेपोलोयन जैसा वीर नारी-लावण्य के आगे झुक गया, प्रभावित नहीं हुआ यह अलग बात है किन्तु उस समय वीरता के प्रचण्ड उफान को संभाल कर कुछ नर्म मुलायम और भावुक अवश्य बना। दिन रात शत्रु सैन्य पर टूट पड़ने वाले शिवाजी शत्रुओं की ललनाओं के सौन्दर्यपूर्ण कोमल भार पर करुणापूर्ण बन गए। तो यह नहीं कहा जा सकता कि सौन्दर्य केवल वासना का भोजन है बल्कि दैवी भावना का उन्मेष प्रकट करने वाला कोमल फूल है, जो दूसरों के हृदयों पर वासना करुणा, मुग्धता भावुकता आदि के अनेक इन्द्रधनुषी आभास प्रकट करता है। इस ललित भावना की अनुभूति भी सांसारिक जीवन की कठोरता में मरुभूमि पर बहती शीतल जलधारा के समान सामयिक सौन्दर्य उद्बोधन और दैवी आनन्द विभोरता की शीतल बयार की लहर पैदा करने वाली है। जीवन की कुण्ठाओं और विविध वेदनाओं से थकित मानव हृदय के लिये यदि सौन्दर्य बोध के शीतल प्रकाश-कण समय पर न मिलें तो उसकी क्या दशा होगी, यह अनुभव का विषय है। आज क्यों सिनेमा इतना व्यापक रूप ले रहा है? आज नगरों और महानगरों का भड़कीला जीवन तो सर्वविदित ही है। मनोविनोद और सौन्दर्य मुक्ति के सहस्त्रों साधन वैज्ञानिक तरीके से निकाल रखे हैं। क्लब, होटल, नृत्यगृह, चित्रगृह, संगीत, रेडियो, चित्रपट, भ्रमण, मधुशाला आदि अनेक आधुनिक मनोविनोदगृह संसार में अधिक व्यापक होते जा रहे हैं। लाखों और करोड़ों रुपए आजका मानव इसी में खर्च कर रहा है। क्योंकि इस समस्या ग्रस्त युग में ज्यों ज्यों मनुष्य घुटता जाता है, त्यों त्यों वह मनोविनोद के

सौन्दर्यपूर्ण साधन ढूंढने लगता है। कभी कभी व्यथित मनुष्य सुन्दरता से मन बहलाता हुआ इस प्रकार उसी का बन जाता है कि फिर पुराने वातावरण में न आकर अपनी एक नई छोटी सी शृंगारिक दुनियां ही बसा लेता है। सुन्दरता सबको प्यारी है। उस पर कैसा भी व्यक्ति हो कभी कभी मर मिटने को तैयार हो जाता है। घर बाहर छोड़ देता है, सम्बन्धियों और मित्रों को तिलाञ्जलि दे देता है।

सौन्दर्यबोध हृदय के विकास का परिणाम है। मनुष्य जितना पठित, चिन्तन बुद्धि एवं सभ्य होगा, उतना ही सौन्दर्योपासक तथा सौन्दर्यपूजक होगा। शिक्षित हृदय ही सुन्दरता की गहराईयां, चिन्तन की गहराईयों द्वारा पहचान कर उसका मूल्यांकन कर सकता है। मनुष्य जीवन और समाज में सुन्दरता का क्या स्थान है, क्या उपयोगिता तथा गुण हैं इस सम्बन्ध में पठित, शिक्षित तथा अभिजात कुल का व्यक्ति ही निर्णय कर पाता है, अन्यथा अशिक्षित और अज्ञानी के हाथ कोई सुन्दर और कोमल वस्तु दीजिये देखिये उसकी क्या दशा बनती है। यह नहीं कि उसमें सुन्दरता के प्रति आकर्षण नहीं है, यह होते हुए भी वह इसकी पूर्ति होने पर उसका प्रयोग ठीक प्रकार से नहीं कर पाता क्योंकि उसके अन्दर मूल्यांकन की वह तीव्रता नहीं जो पहले प्रकार के मनुष्य में होती है। किसी सुन्दर वस्तु के रख रखाव में मनुष्य की अपनी कला होती है और यह कला जितनी सूक्ष्म होगी उतनी ही उसमें सौन्दर्यबोध की मात्रा भी रहेगी। बहुत से लोगों का स्वभाव शुचिता और स्वच्छता में रहने का होता है। वे अपना अधिक समय घर के प्रकोष्ठों को सजाने-बनाने में ही व्यतीत करते हैं। बैठक के कमरे अलंकृत एवं विविध सौन्दर्य-सामग्री से विभूषित रखते हैं। उनकी हर प्रकार की क्रिया इसी प्रकार की रहती है। किस भावना से प्रेरित होकर वे इस कार्य में प्रवृत्त रहते हैं, सोचने पर उनके अन्दर प्रसुप्त सौन्दर्यबोध का ही अनुमान लगाया जा सकता है।

सौन्दर्य के प्रति आग्रह मनुष्य के हृदय में बैठी कोमल भावना का द्योतक होता है। दया, सहानुभूति मधुर व्यवहार ये गुण भी सौन्दर्योपासना के फल हैं। इन गुणों की जितनी मात्रा मनुष्य में रहेगी उतना ही उसमें सौन्दर्यबोध भी रहेगा।

सौन्दर्यबोध मनुष्य के अन्दर रहने वाली संस्कृति, आभिजात्य और सभ्यता का प्रतीक है। यह उच्चस्तरीय होने की निशानी है। कर्कशता उन्हीं लोगों में रहती है, जिनमें कोमल भावना का संस्कार नहीं है, जो जीवन की कुरूपताओं का शिकार होकर अपने को ऊंचा उठाने की अपेक्षा निम्नस्तरीय बना देते हैं। ज़रा ज़रा सी बात के लिये चिड़चिड़ा बनकर दूसरों का व्यर्थ तिरस्कार कर देना, बच्चों का डांटना, स्त्रियों के साथ विवाद तथा षड़यन्त्री प्रवृत्ति रखना आदि दुर्गुण मनुष्य को निम्नस्तरीय बना देते हैं। ऐसे व्यक्ति क्रोधी, बाल की खाल उतारने वाले, झगड़ालू, कंजूस और निष्कारण परद्वेषी होते हैं। चापलूसी, निन्दा, दूसरे को हानि पहुंचाने की भावना आदि तुच्छ प्रवृत्तियां इनमें बलवती होती हैं। ऐसे स्वभाव के पुरुषों में सौन्दर्यबोध की थोड़ी सी मात्रा ही हृदय के किसी कोने में प्रसुप्त रहती है, जो कभी ही जग पाती है और जगने की स्थिति में उनमें थोड़ी सी ही नर्मी या कोमलता आ सकती है, जो सौंदर्यबोध की दिशा में अपर्याप्त है। भावुकता सौंदर्यबोध का मुख्य स्रोत है। मनुष्य भावुकता में आकर ही करुणापूर्ण हृदय से कोमलता के प्रति आग्रहवान बनता है। कोमलता का अनुयायी होना ही सौंदर्योपासकता का चिह्न बन जाता है। कवि लोग भावुक होते हैं। इसी कारण वे सौंदर्यबोध द्वारा वस्तु-जगत् का सुन्दर चित्र उतारते हैं। इन कवियों की श्रेणी में भी छायावादी और प्रकृति प्रेमी कवि सौंदर्य भावना में अधिक लीन रहते हैं, छाया-वादी कवियों के कण्ठ से अधिकतर प्रकृति सौंदर्य और सुकुमारता तथा उसमें स्वर्ग सुन्दरी की रमणीय कल्पना का स्वर फूटा है। छायावादी मांसल सौंदर्य के चितेरे न होकर प्रकृति और नारी की दैवी रम्यता के द्रष्टा और प्रवक्ता रहे हैं।

वास्तव में एकान्त सेवन, समस्याओं से बचाव तथा मानसिक प्रफुल्लता इन तीन साधनों द्वारा मनुष्य के हृदयाकाश में प्रसुप्त सौंदर्यानुभूति के बीज प्रस्फुटित होते हैं। आध्यात्मिक भावना, भोग लिप्सा तथा अर्थ संचय-भावना से चित्त की स्वतन्त्रता ही इस अनुभूति को जगाती है। आज के यान्त्रिक युग में जब मानव के चारों ओर समस्याओं का जाल बिछा है, राजनीति का प्रबल दौर, राजनीतिज्ञों का पद लोलुपता के लिये जोड़ तोड़, उसका जन-मानस पर कुरूप प्रभाव और उससे पैदा होने वाली विषम परिस्थितियों से देश का वातावरण ही जब विषम हो चला है तब सौंदर्यबोध की भावना मानव मात्र के मानस पटल पर कैसे उद्भूत हो सकती है। इस भीड़, बेकारी, महंगाई और आस्था हीनता के वातावरण में प्रत्येक मनुष्य उड़ा उड़ा, व्यस्त और आत्मनिष्ठ है। उसे जीने की सर्वप्रथम चिन्ता है। ऐसी स्थिति में यह सौंदर्यबोध इस युग में आकर कुछ दब सा गया है। फिर भी इसे जागृत किया जा सकता है; इसको जगाने की ओर विशेष ध्यान देकर।

———

प्रसारण के मूल सिद्धान्त

दीदार सिंह

भारत में प्रसारण का इतिहास कोई ज्यादा पुराना नहीं है। अभी थोड़ा समय पहले भारत में प्रसारण की स्वर्ण-जयन्ती सम्बन्धी समारोहों का समापन हुआ। प्रसारण के चाहे पचास वर्ष पूरे हो गये लेकिन 'आकाशवाणी' ने अभी पांचवें दशक में प्रवेश ही किया है।

लेकिन इन चार दशकों में प्रसारण के विभिन्न केन्द्रों से जितना साहित्य प्रसारित हुआ उतना शायद छपा न हो। और जितने लोगों ने ये प्रसारण सुने होंगे उनमें से पांच प्रतिशत ही ऐसे लोग होंगे जो प्रकाशित साहित्य को पढ़ सकते हों। प्रसारण की यह सुविधा है कि उसे शिक्षित-अशिक्षित दोनों समझ सकते हैं और सुनने के लिए पढ़ने जैसा प्रयास नहीं करना पड़ता। आप कोई भी काम करते-करते प्रसारण सुन सकते हैं।

सामाजिक-जीवन के विभिन्न विषयों के अतिरिक्त साहित्य की प्रायः सभी विधाएं प्रसारण के क्षेत्र में आ जाती हैं। मात्र उपन्यास ही ऐसी विधा है जिसे समयाभाव के कारण प्रसारित नहीं किया जा सकता। हां इस पर आलोचना तथा परिचर्चा प्रसारित हो सकती है। उपन्यास अथवा लंबी कहानियों को रेडियो-नाट्य रूपान्तर दे कर प्रसारित किया जाता है। इस प्रकार नाट्य-रूप देने से उन रचनाओं का अधिक प्रभाव अनुभव किया जाता है।

जहां तक कविता-कहानी की बात है तो कविता आधे मिनट में भी पढ़ी जा सकती है और पांच मिनट में भी। इसी प्रकार पांच-पांच मिनट में पढ़ी जाने वाली कहानियां भी लिखी जाती हैं। प्रायः लेखकों के लिए दस मिनट के सीमित समय में अपनी

कहानी को समेटना कठिन हो जाता है। लघु-कहानी प्रसारण की ही मांग नहीं, अपितु पत्र-पत्रिकाओं की भी मांग है। क्योंकि वास्तव में यह मांग है श्रोताओं अथवा पाठकों की।

समय की परिधि के अतिरिक्त प्रसारण के लिए कुछ आचार संहिता की भी सीमाएं होती हैं। जब कोई पाठक किसी रचना को पढ़ता है तो वह अकेला ही पढ़ रहा होता है। लेकिन जब एक लेखक या वार्ताकार रेडियो पर पढ़ता है तो उसे पूरा परिवार सुन रहा होता है—कहीं भी चार व्यक्ति इकट्ठे बैठ कर सुन रहे होते हैं। उनका ध्यान अपने काम या बातों की ओर भी होगा और प्रसारण की ओर भी। अर्थात प्रसारण के प्रति उनकी इतनी एकाग्रता नहीं हो सकती जितनी कि पढ़ने वाले पाठक की होगी। श्रोताओं से कुछ बातें सुनने में रह जाती हैं और कुछ ठीक से नहीं सुन पड़तीं तो उन्हें कई बार अर्थ-भ्रान्ति भी हो जाती है।

इस लिए यह आवश्यक है कि प्रसारण के समय जो बात कही जाए वह अपने में पूरी हो। उसे समझने के लिए पिछला संदर्भ जानना जरूरी न हो। कविता और नाटक तथा रूपकादि में तो शब्द नपे तुले होते ही हैं, लेकिन कहानी और वार्ता में कुछ बातों का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। समयाभाव के कारण लम्बी-चौड़ी भूमिका की गुंजाइश कहीं नहीं होती। कहानी में लम्बे वृतान्त नहीं चल सकते। वार्ता भी सीधी निर्धारित विषय से ही शुरू होनी चाहिए ताकि उसे सीमित समय के अन्दर समाप्त किया जा सके। इतने बड़े विषय को दस मिनट के समय में समेटना कोई आसान काम नहीं जबकि उसी विषय पर दो घण्टे का भाषण भी कम हो सकता है। लेकिन समय की पाबन्दी प्रसारण की मजबूरी भी है और कला भी। कला इस लिए कि निर्धारित अवधि में आप ने वे बातें कहनी होती हैं जो अन्यथा न कही गई हों अथवा जो नवीनतर मत हो—नवीनतर स्थिति हो। उसमें पिछला इतिहास बताने की गुंजाइश नहीं और श्रोताओं को भी उन बातों में रुचि नहीं होती जो वे पहले से ही जानते हों। उसमें

दोनों बातें संभावित की जाती हैं—श्रोता सब कुछ जानते हैं या श्रोता कुछ भी नहीं जानते।

प्रसारण में आवाज के माध्यम से ही पात्रों अथवा पाठक की मनः स्थिति का अनुमान होता है। कहानी कविता या वार्ता तो एक ही व्यक्ति पढ़ रहा होता है, लेकिन नाटक में जहां कई पात्र होते हैं वहां आवाज-भेद से ही उन्हें जाना जाता है।

अतः एक तो नाटक में पात्रों की भीड़ नहीं होनी चाहिए कि उन्हें आवाज़ों से पहचानना कठिन हो जाए। रंगमंच पर जो पात्र एक बार आता है, उसकी वेश-भूषा तथा हाव-भाव से दर्शक उसे पहचान कर याद रखते हैं, लेकिन रेडियो-नाटक में यदि दो पात्रों की आवाजें परस्पर मिलती हों तो श्रोताओं को भ्रम हो जाता है। जहां नाटक-निर्देशक के लिए आवाज़ों का चयन करते समय उनके वैविध्य को समक्ष रखना पड़ता है वहां लेखक के लिए भी आवश्यक होता है कि वह कम-से-कम पात्र नाटक में रखे जिन्हें ध्वनि-अभिनय द्वारा श्रोता अच्छी तरह पहचान सकें।

कई बार कोई रचना लिखनी उतनी कठिन नहीं होती जितना उसे स्टूडियो में माइक्रोफोन के सामने बोलना। अच्छी लिखी रचना को पढ़ते समय सत्यानाश हो सकता है और उसका बिल्कुल विपरीत प्रभाव पड़ सकता है जबकि कई बार आप ने देखा या सुना होगा कि कुछ लोगों का अन्दाज़-ए-ब्यां ही जादू कर जाता है।

अगर ध्वन्यांकन (रिकार्डिंग) के समय यह समझा जाए कि मुझे कोई नहीं सुन रहा, अगर लोग सुन भी रहे हैं तो वे कुछ नहीं जानते—तब तो पूरे विश्वास से बोल सकेंगे। अगर आप यह सोचने लगें कि पता नहीं कौन-कौन सुन रहा होगा—सुनने वाले क्या सोचते होंगे—पता नहीं ठीक बोला जा रहा है कि नहीं—ठीक लिखा भी है कि नहीं—तो समझो मामला गया हाथ से।

अतः कहानी या वार्ता पढ़ते समय निम्नलिखित बातों की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है :—

1. आवाज़ का उतार-चड़ाव (Modulation)
2. विराम (Punctuation)
3. उच्चारण (Pronunciation)
4. शब्दों का चुनाव।
5. भाषा।

1. **आवाज़ का उतार चढ़ाव** : प्रसारणार्थ आलेख (Script) ऐसा तैयार किया जाए, जिसे पढ़ते समय ऐसा लगे मानो आप किसी से आमने-सामने बातें कर रहे हैं। ऐसा न लगे कि आप पुस्तक-पाठ कर रहे हैं। जैसे सामने बातचीत करते हमारी आवाज़ में हर्षोल्लास, विस्मय-क्रोध आदि का उतार चढ़ाव आता है हम किसी बात पर ज़ोर देते हैं, कहीं बन के बोलते हैं, वही नाटकीयता वार्ता या कहानी पढ़ते समय आनी चाहिए। यह लगे ही न कि हम पढ़ रहे हैं। अपितु ऐसे लगे कि हम साधारणतः बातें कर रहे हैं।

कई बार देखा गया है कि कुछ लोग एक ही सांस में बोलते जाते हैं जैसे कोई पीछे लगा हो और जल्दी से अपनी बात कह कर भागना हो। या कुछ लोग एक ही टोन में बोलेंगे और भावाभि-व्यक्ति का नाम-मात्र नहीं होगा। जैसे हम अपने मित्रों से संबोधित होते हैं, ऐसे ही श्रोताओं से सम्बोधित होंगे तभी उनके साथ अपनत्व स्थापित हो सकेगा। विषयानुकूल तथा भावानुकूल आवाज़ में नम्रता और सरसता लाना आवश्यक है। आपकी आवाज़ या कहने का ढंग श्रोता को बान्ध ले, उसे अपना काम छोड़कर आपकी आवाज़ सुनने के लिए विवश होना पड़े तभी बात बनती है।

2. **विराम** : विराम ठीक न देने से अर्थ का अनर्थ कैसे होता है यह तो सबको विदित है। न केवल अर्थ का ही अनर्थ होता है अपितु बात अथवा वाक्य की सारी सुन्दरता ही नष्ट हो जाती है। वह भाव नहीं सामने आता जिसे लाने का प्रयास किया जाता है। इसमें लंबे और पेचीदा वाक्यों का मोह त्यागना आवश्यक है। 'पकड़ो मत, जाने दो—पकड़ो, मत जाने दो' यह उदाहरण तो आपने व्याकरण पढ़ते समय कई बार पढ़ा होगा। ऐसा ही

एक उदाहरण यहां प्रस्तुत है जो एक प्रसारण में सुना गया था। एक प्रादेशिक भाषा में समाचार प्रसारित हो रहे थे। एक वाक्य था—'हम, लोकतान्त्रिक व्यवस्था में विश्वास रखते हैं।' लेकिन ग़लत विराम के कारण इसे ऐसे पढ़ा गया—हम लोक, तान्त्रिक-व्यवस्था में विश्वास रखते हैं।' देखिए एक प्रजा-तान्त्रिक देश को जादू-टूने का देश बना दिया। अतः यथायुक्त विराम और पढ़ते समय प्रवाह होना जरूरी है ताकि बोलने वाले की आवाज़ बिल्कुल स्वाभाविक लगे—उसमें किसी प्रकार की बनावट न हो।

रेडियो पर अपनी आवाज़ सुनने का कुछ लोगों को बहुत शौक होता है लेकिन यह भी देखना जरूरी है कि यह आवाज़ दूसरों को कैसी लगती है। यदि आवाज़ ऐसी हो जिसमें स्पष्टता न हो या और कोई नुक्स हो तो अपनी आवाज़ सुनने के प्रलोभन को त्याग कर अपनी रचना दे देनी चाहिए जो किसी अच्छी आवाज़ द्वारा पढ़ी जाए। इससे लिखने वाले का श्रोताओं पर अधिक प्रभाव बना रहता है।

3. **उच्चारण :** प्रायः हम लिखते ठीक हैं लेकिन उच्चारण ठीक नहीं कर पाते। प्रसारण में तो यह होता है कि आप चाहे जैसा शुद्धाशुद्ध लिखें, मगर बोलें ठीक तो सब ठीक है। जलवायु तथा स्थानीय प्रभाव से उच्चारण में अन्तर आ जाता है। बोलने वाला तो समझता है कि वह ठीक उच्चारण कर रहा है—लेकिन सुनने वाले को वह ठीक नहीं लगता। कई बार ठीक उच्चारण का पता न होने से भी ग़लत उच्चारण होता है लेकिन कई बार यह बस से बाहर की बात होती है। जैसे उत्तर प्रदेश के कुछ इलाकों में लोग 'श' को 'स' बोलते हैं और 'स' को 'श'। जैसे 'शंका', 'विश्वास' को 'संका', 'विस्वास' और 'संशोधन' को 'शंसोधन'।

इसी तरह पंजाब के दोआबा इलाके तथा जम्मू प्रदेश में कुछ लोग 'व' 'ज़' 'ग़' का उच्चारण नहीं कर पाते। व को ब, ज़ और ग़ को ज ग बोलते हैं। जैसे व्यक्ति को ब्यक्ति, विशेष को बिशेष, ज़हर को जहर ग़रीब को गरीब और ग़ज़ल को गजल बोलते

हैं। यही उच्चारण-दोष अंग्रेज़ी में भी चलता है जब 'विक्ट्री' को विक्ट्री और 'इज़' को इज बोला जाता है। अंग्रेज़ी के ज़ेड और वी (Z and V) का कितने ही लोग उच्चारण नहीं कर पाते। लिखने में ठीक लिखा जाता है। परशियन लिपि में 'ण' न होने से कितने ही लोग 'ण' को भी 'न' बोलते हैं—दर्पण को दर्पन तथा आकाश-वाणी को आकाशवानी या आकाशबानी।

इस लिए प्रत्येक अक्षर तथा शब्द का ठीक उच्चारण आवश्यक है। ऐसे ही शब्द प्रयुक्त किए जाएं जो ठीक से बोले जा सकें। वार्ताकार को अपने शब्दों के उच्चारण से परिचित होना चाहिए। फिर बोलते समय शब्द के प्रत्येक अक्षर पर ज़ोर दिया जाय ताकि सारे शब्द ठीक से सुने जा सकें।

4. **शब्दों का चयन :** उच्चारण के साथ ही शब्दों के चयन की बात जुड़ी है। ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिये जिनका ठीक उच्चारण न हो सके और ऐसे शब्द भी नहीं लेने चाहिएं जिन्हें सुनकर किसी और शब्द की भ्रान्ति हो। शब्द वही प्रयुक्त किए जाएं जो सुनने में बिल्कुल स्पष्ट हों और जिनके अर्थ भी निश्चित हों—अनेकार्थक न हों। दो शब्दों में से पहले शब्द की अन्तिम तथा दूसरे शब्द की प्रथम ध्वनि यदि एक ही हो तो वहां या तो एक शब्द बदल दिया जाए या फिर बोलते समय पहला शब्द बोलकर फिर हल्का सा रुककर अगला शब्द बोला जाए जिससे दोनों शब्द पृथक पृथक सुनाई दें। अब जैसे 'तीस साथी'। कहना हो तो 'ती-साथी' बोला जाता है। यहां पहले 'स' का लोप हो जाता है। इस लिए यहां 'तीस' बोलने के बाद बीच में कोई एक सैकंड रुककर अगला शब्द 'साथी' बोला जाय तो दोनों शब्द पृथक से सुनाई देंगे। इसी तरह 'असन्तोष' बोलते समय 'अ' मुंह में रह जाता है और केवल 'सन्तोष' सुनाई देता है। इस भ्रम को दूर करने के लिए प्रसारणार्थ 'असन्तोष' के स्थान पर 'बेचैनी' शब्द का प्रयोग करने में संकोच नहीं होना चाहिए जिसके सुनने में किसी प्रकार की भ्रान्ति की संभावना नहीं।

एक दिन एक पंजाबी वार्ताकार अपनी वार्ता में पढ़ रहा था "अखौती (तथाकथित) धर्म वाले"—लेकिन पढ़ते समय 'अ' उसने मुंह में ही बोला और जो सुनाई दिया वह था—'खोती धर्म वाले'। अगर वह 'अखौती' के स्थान पर 'नाम-निहाद' का प्रयोग कर लेता तो यह भ्रान्ति न होती।

प्रसारण के लिए शब्दों के मोह में पड़ना, अपनी वार्ता को बिगाड़ना है। यहां शब्दों का मोह अथवा अलंकारिकता का मोह गौण रह जाता है और उनकी स्पष्टता तथा प्रेषणीयता प्रधान रहती है। क्लिष्टता एक दूसरी बाधा है जो त्याज्य है। क्लिष्ट शब्दों को चुनना अपने और श्रोताओं के बीच रोड़े अटकाने वाली बात है।

5. **भाषा :** यों तो उक्त सभी बातें भाषा का ही अंग हैं लेकिन समूचे तौर पर भाषा ही एक माध्यम है अपनी बात कहने का और दूसरों को समझाने का। एक वार्ताकार को क्लिष्ट भाषा तथा श्रोताओं में से एक को चुनना होगा। जितनी भाषा सरल, मीठी और साधारण होगी उतने ही अधिक श्रोता उसे समझेंगे और जब समझेंगे तो सराहेंगे भी। जो बात किसी की समझ में ही नहीं आएगी तो उस पर वह अपना क्या मत दे सकता है? छोटे और सरल वाक्य बोलने में भी सुविधा होती है, विराम में भी गड़बड़ नहीं होती और श्रोता भी आसानी से समझ लेता है। यह ज़रूरी नहीं कि कोई वार्ता या अन्य कार्यक्रम केवल विद्वान ही सुनते हों। अधिक संख्या तो सीधे सादे अनपढ़ लोगों की है। अगर कोई प्रसारण विद्वानों के लिए भी है तो ऐसी भाषा और ढंग से प्रस्तुत किया जाए कि सीधे-सादे अनपढ़ लोगों में भी उस प्रसारण के प्रति रुचि उत्पन्न हो और वे भी आनन्द प्राप्त कर सकें। पाठकों की बात और है। पाठक तो पढ़े लिखे होंगे तभी कोई रचना पढ़ेंगे और उनके लिए भाषा की क्लिष्टता की भी विशेष समस्या नहीं रहती।

एक छोटा सा उदाहरण देता हूं। एक बार एक विद्वान अपनी वार्ता रिकार्ड करवाने के लिए रेडियो-स्टेशन जा रहा था। रास्ते में इनके मुहल्ले का जमादार सड़क की सफाई करता मिल

गया। उसने पूछा, "बाबू जी किधर जा रहे हैं ?"

"मेरा रेडियो में प्रोग्राम है न, उसे रिकार्ड करवाने जा रहा हूं", विद्वान ने उत्तर दिया।

"आप का प्रोग्राम ! रेडियो पर, किस वक्त !"

"रात आठ बजे।"

"रात आठ बजे ! तब तो मैं भी सुनूंगा। ज़रूर सुनूंगा।"

विद्वान महोदय आगे चल दिए लेकिन उनकी सोच को जमादार ने झिंझोड़ दिया। "यह भी सुनेगा" वे सोचते जा रहे थे।

"तो फिर इसकी समझ की ही बात होनी चाहिए।" वे इस निर्णय पर पहुँचे। उन्होंने रिकार्डिंग से पहले अपना सारा आलेख (Script) बदला—यह बात सामने रखकर कि उनकी इस वार्ता को उनका जमादार भी सुनेगा।

यही उद्देश्य सामने रखकर जब वार्ता प्रसारित की जाए तो श्रोताओं का जन-मत वार्ताकार के साथ रहता है।

आहत चीड़ें

अशोक जेरथ

पहाड़ों की नंगी छाती पर अपना एकछत्र राज्य स्थापित कर ये चीड़ें बिना किसी जलस्रोत को तलाश किए बढ़ती रहती हैं। इनकी यह अंतहीन यात्रा किसी आतंकवादी की कुल्हाड़ी द्वारा अथवा किसी सांसारिक कीड़े के कुतरने अथवा प्राकृतिक या अप्राकृतिक आग में झुलस जाने से समाप्त होती है। किन्तु समाप्त होने से पहले दिवास्वप्न में खोईं ये चीड़ें जाग उठती हैं। अपने इकहरे शरीर से निकलीं छटपुट शाखाओं को झाड़ती रहती हैं और उन में छुपे वसंतकालीन केसर के झुण्ड जो तब तक नीचे नहीं गिर पाते हैं, बिखर जाते हैं। अपनी सुगन्धी लिए और साथ में परम्परागत वंशवृद्धि की कामना लिए, किसी स्रोत को ढूंढते इनके केसर कण पीले बादलों के झुण्ड की तरह चारों ओर फैल जाते हैं। जहां जिसको राह मिलती है वह अपने साथियों से अलग होकर कुछ निजी स्वार्थवश कुछ वंशवृद्धि की कामना लिए अपने हृदयों के पट खोल कामदेव को तरह सजपुत कर सुगन्धित और आकर्षक क्रीड़ाओं के साथ किसी कामिनी की तलाश में निकल पड़ते हैं। उनके तरकश में जितने भी वाण होते हैं उन्हें वे अपने को केन्द्र मानकर चारों ओर छोड़ देते हैं। ताकि किसी न किसी मेनका को विंध सकें और वे वाण चारों दिशाओं में पूर्ण वेग के साथ फैल जाते हैं। तो दूसरी ओर प्रकृति द्वारा तराशे फूलों में उनकी मेनकाएं अपना जाल बिछाए बैठी होती हैं। उनके जिस्म की खुश्बू धीरे धीरे जाती वसंत के साथ साथ फैल जाती है। उसी सुगन्ध से बन्धे अपने वाणों से लेस अनेक केसरकण रूपी कामदेव इस होड़ में लग जाते हैं कि कौन पहले पहुँच सके। ठीक रोम के

खिलाड़ियों की तरह वे प्रतिस्पर्धा में लीन हो जाते हैं। उन्हें इस बात का ज्ञान होता है कि यदि वे अपनी मेनका तक नहीं पहुँच सके तो मिट्टी में मिल कर फनाह हो जाएंगे। उनकी इहलीला समाप्त हो जाएगी। जो जीत जाएगा वही अमर होगा। हजारों लाखों में कुछ बिरले ही होते हैं जिन्हें यह सौभाग्य प्राप्त होता है। जिन के लिए मार्ग प्रशस्त हो उठते हैं। और उनके मधुर मिलन के क्षण बढ़ते रहते हैं।

पूरे संसार को भूलकर वे उन मधुर क्षणों को पकड़ने में खो जाते हैं। यह मस्ती का आलम पूरे तीन वर्ष तक चलता है। और शायद यही क्षण होते हैं जिन्हें वे आनन्दपूर्वक घड़ियों सहित उत्साह से जीते हैं। बाकी सारा जीवन ये पीड़ायें झेलते रहते हैं। प्रकृति भी कितनी सूक्ष्म है। उनकी आवश्यकताओं को पहचानती है। अतः इनकी इच्छा अनुसार इनके हरे घरौंदे बंद हो जाते हैं। ताकि बाहिर से किसी भी प्रकार का खलल न पड़े। उनका आकार बढ़ जाता है। ताकि प्रणय क्रीड़ा में किसी भी प्रकार का विघ्न न पड़े। यह प्रणय क्रीड़ा तब तक चलती रहती है जब तक कि दोनों मिलकर एक नहीं हो जाते। यह तीसरे वर्ष में सम्भव हो पाता है। जब उनके हरे घर पकी लकड़ी के घरौंदों में बदल जाते हैं। उनके पार्श्व में खिड़कियां खुल जाती हैं ताकि हवा का आवा गमन हो सके। यह लकड़ी के फूलनुमा घर जब पूर्णतया खुल जाते हैं तो उनमें बंद युगल प्रेमी जिनका अब एक ही अस्तित्व हो गया होता है, बाहिर निकल कर अपनी उमंग में पंखों सहित उड़ान भरने लगते हैं···उनकी कामनायें जो पूर्ण हो गई होती हैं। उनकी उड़ान का क्षेत्र सीमारहित होता है। फिर जहां कोई रहने लायक जगह देखते हैं वहां नीचे उतर कर अपना एक नया संसार शुरू करते हैं। प्रकृति के दामन में जन्मे, बढे हुए और प्रकृति के दामन में ही प्रणय क्रीड़ा में सफल युगल प्रणयी प्रकृति की गोद में ही अपने घर की स्थापना करते हैं। किन्तु चीड़ों को इनकी जुदाई खूब खलती है। इनके विरह में सर और बाजू हिला कर, पटक कर ये अपना दुःख प्रकट करती हैं। किन्तु चीड़ों

से भी ज्यादा दु:ख इनके लकड़ी के घरौंदों को होता है। इन्हें स्थानीय लोग चट्टानु कहते हैं। काफी अरसे तक ये घरौंदे अपने अपने बिछुड़े आत्मजों के वापिस आने की राह जोहते जब थक जाते हैं तो निराश होकर हवा के जोर से छिटक कर लुढ़कने लगते हैं। काफी देर तक उनके लुढ़कने की आवाज़ लकड़ी के छनके की तरह सारे पहाड़ी क्षेत्र में गूंज उठती है। बिल्कुल जादूई घाटियों में जैसे अंतहीन दर्द को सहन न कर सकने की व्यथा सुबकने में बदल जाती है। वे नितान्त अकेली घाटियां सुबकती अन्तर में सोई पुरातन अनुभूतियों को पिघला देती हैं। ऐसी ही पिघलन बहुत पहले बचपन में शीतकाल के बाद उभरे फाल्गुन के मास में कई बार महसूस की थी। पर बीच में न जाने कैसे ये अनुभूतियां खो गई थीं। देवदूतों की भांति अकेले में खड़ी ये चीड़ें किसी मौन व्यथा को अंतर में छुपाये घुलती रहती हैं। नागरिक सभ्यता से बहुत दूर नितान्त सूखी ऊंची उठती जमीं पर ये अपना राज्य स्थापित करती हैं। फिर धीरे धीरे इन्हीं के प्रयास से वह नंगी जमीन उपजाऊ होने लगती है। इसके लिए इन्हें अनेक बलिदान देने पड़ते हैं। इनके शरीर के अनेक अंग कट कट कर गिरते रहते हैं। और शाखें अपने साथ अनेक अव्यय लेकर चीड़ों के दामन में जमीं पर फैल जाती हैं। लकड़ी के खाली फूल, बरोजे से युक्त इनकी शाखायें और सूई-नुमा पत्ते. ये सब घुल-घुलकर पहाड़ों की सतह पर फैल जाते हैं और हवा द्वारा उड़ा कर लाए गए अनेक प्रकार के बीजों को अपने दामन में स्थान देते हैं। इनका राज्य विभिन्न तरह के वनस्पति के सदस्यों सहित बढ़ता रहता है। इस तरह अनजाने देशों में जाकर नंगे पर्वतों पर ये अपना प्रभुत्व स्थापित कर सत्ता चलाते हैं। इनकी सत्ता की सीमायें हर समय बढ़ती रहती हैं। किन्तु इनकी सीमाओं को भी इनके सजातीय भाई वृन्दों द्वारा बान्ध दिया गया है। चीड़ों तथा देवदारों में युगों से अपने आपको देव वृक्ष कहलाने की होड़ लगी रही है। किन्तु देवदार अपने विशिष्ट व्यक्तित्व तथा खुशनुमा फर के कारण जीतते आये हैं। वे एक सीमा तक ही चीड़ों के राज्य

को फैलने देते हैं। यहां से देव लोक का मार्ग प्रशस्त होता है। वहां अनेक चीड़ एवम् देवदार के वृक्ष द्वन्द्व में उलझे दिखाई देंगे। अक्सर यह स्थान पांच हजार फुट के आस पास होते हैं। इस द्वन्द्व में जीत सदा देवदारों की होती है। यहीं से फिर देवदारों का एक छत्र राज्य शुरू हो जाता है। किन्तु चीड़ों से राज्यविस्तार छीनकर देवदार भी सुखी नहीं रह पाते। बिल्कुल देवलोक के द्वार तक पहुँचकर देवदारों के विस्तार को भी रोक दिया जाता है: देवदारों के प्रगतिशील कदमों को ओक का वृक्ष थाम लेता है। 'ओक' अपने आप को देवलोक का पुजारी कहता है। किन्तु देवदार ओक को, देवलोक के वासियों के सबसे बड़े चमचे का रुतबा देते हैं। जो उनकी चमचागिरी करता रहता है। इसमें भी बड़े मजे की बात तो यह है कि ओक के प्रति बाह्य रूप से देवदार सदा सम्मान दिखाते रहते हैं। किन्तु अन्दर ही अन्दर वे कुढ़ते रहते हैं। पता नहीं 'ओक' देवलोक के इतने करीब क्यों होते हैं। उनकी आकृति भी कोई विशेष नहीं होती। देवदारों के बाहिरी व्यक्तित्व के सामने उनका बौना सा अस्तित्व बड़ा निम्न सा प्रतीत होता है। हो सकता है उनमें कोई आन्तरिक सामर्थ्य हो। देव-लोक की शीत लहरों और तेज़ बर्फानी हवाओं को झेलने की शक्ति केवल इन्हीं के पास होती है। किन्तु सबसे बड़ी बात देवलोक के वासियों को प्रसन्न करने की कला में ये सब से ज्यादा निपुण होते हैं। और यही तो सब से बड़ी विशेषता है जो लोकराज में सब से बड़ा गुण तथा योग्यता मानी जाती है। लोक राज में अफसर-शाही और लालफीताशाही का यथार्थ रूप हमें यहीं मिलता है। जब तेज़ हवायें चलती हैं तो ओक अपने क्रोध का उफान अपने पत्तों को देवदारों की फर में उलझा कर शान्त करता है। और देवदार मौन साधे उनको अपनी सुन्दर फर में विलीन होते भीगी आंखों से देखते रहते हैं। वे चाहकर भी विद्रोह नहीं कर सकते। किन्तु उनका क्रोध अपने नीचे उपजने वाले चीड़ के वृक्षों पर उतरता है। उनके उफनते गुस्से से सारे वातावरण में भूंचाल सा आ जाता है। वे अपनी झड़ती फर को चीड़ों की ओर उछाल कर अपने आप

को शान्त करता है। किन्तु इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता है कि उनका यह रूप ओक को न पता चले। और चीड़ें ! बेचारी उस बोझ को सम्भाले चिंघाड़ती रहती हैं, शोर मचाती हैं किन्तु चाहकर भी देवदारों का कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं। उनके लकड़ी के चट्टानु तथा शाखायें टूट टूट कर चारों ओर फैल जाती हैं। चीड़ों के दामन में उगी घास तथा छोटी मोटी झाड़ियां चीड़ों को गुस्से में देख कर और दुबक जाती हैं। किन्तु फिर भी वे अपने ऊपर ओक, देवदार और चीड़ों के कहर को गिरने से बचा नहीं पातीं।

कई नए उगने वाले पौधे तो चट्टानों के भार के नीचे दब जाते हैं। लेकिन इनमें से कुछ ऐसे भी होते हैं जो चाणक्य जैसी नीति के कारण एक साथ ओक के आस पास पलते रहते हैं। कई स्थानों पर ओक, देवदार और चीड़ों को इकट्ठे उगते देखा जा सकता है। इसका कारण देवदार और चीड़ों की कूटनीति ही हो सकती है जो लोकतन्त्र का तथा राजनीति का एक अचूक अस्त्र है।

चीड़ों के लिए केवल यही व्यथा नहीं है। नागरिक सभ्यता से दूर अपना राज्य स्थापित करने पर भी नागरिक सभ्यता द्वारा थोपी हुई पीड़ाओं को इन्हें झेलना पड़ता है। वे अक्सर इन्हें कोंचते रहते हैं। इनके ताज़ा ज़ख़्मों से पिघलन के रूप में इनका ताज़ा रक्त बहता रहता है। बेचारी चीड़ें चुपचाप उस दर्द को सहन करती हैं, और सुबकती रहती हैं। उनका सुबकना कई बार चिंघाड़ में बदल जाता है। पर लाख चाहने पर भी ये अपने रिसते ज़ख़्मो को रिसने से रोक नहीं पातीं। वन अधिकारी पकी मिट्टी के बने प्यालानुमा बर्तनों में उनके रक्त को किसी शोषक की भांति तब तक निचोड़ते रहते हैं जब तक वह स्वयं ही रिसना बंद न हो जाए। फिर उन्हें इकट्ठा कर नगरों में भेज दिया जाता है। नागरिकों के विभिन्न उपयोग के लिए। चीड़ों के ज़ख़्म स्वयं ही भर जाते हैं किन्तु कोंचे हुए चिन्ह जीवन भर उन्हें इन पीड़ाओं की याद दिलाते रहते हैं।

फूलनुमा लकड़ी के फल जब खुल जाते हैं तो बीजों के रूप में फले चिलगोज़ों को निकालकर आदमी इनकी वंशवृद्धि को रोकता है। जो बचकर निकल जाते हैं वे कभी भी आस पास गिरना पसंद न कर दूर दराज इलाकों में पहुंच जाते हैं यहां इन्सान की पहुंच कठिन हो। किन्तु इन्सान बहुत चालाक जानवरों में गिना गया है। वह अपनी धूर्तता के लिए प्रसिद्ध है। अतः वह चट्टानुओं को खुलने से पहले ही तोड़कर चिलगोज़ों को निकाल लेता है। चीड़ें अपना सर धुनकर रह जाती हैं।

चीड़ों को सब से भयंकर पीड़ा उस समय होती है जब प्रकृति उन पर क्रुद्ध होकर उनमें अपने तरीके से अग्नि का प्रवेश कर देती है। इस नारकीय यातना से छुटकारा पाना इनके लिए असम्भव होता है। इनकी चर्बी तिल तिल पिघलकर जलती रहती है और अपने साथ इनको हरी शाखायें, इनके दामन में फैली झाड़ियां तथा दूसरी वनस्पति को जलाकर राख कर देती है। चीड़ों को सबसे बड़ा दुःख इसी बात का होता है कि उस कष्ट-कारक घड़ी में उसके अव्यव भी उसका साथ नहीं देते। अपितु अग्नि को आहुति देकर और प्रज्वलित करते हैं। यह आग हफ्तों, महीनों तक जारी रहती है जिसमें इनके कई वंश समाप्त हो जाते हैं। लेकिन इनका बलिदान व्यर्थ नहीं जाता। वर्षा ऋतु के बाद उगने वाली हरी घास इसका प्रतीक है। पहाड़ों पर चरने वाले मवेशियों के लिए ऐसी ही हरी घास की आवश्यकता होती है। यही स्थान बाद में चरागाह बन जाते हैं। इसीलिए कई बार तो गूजर, गद्दी अथवा दूसरे लोग अगले वर्ष अच्छी घास के लिए चीड़ों के जंगल में आग लगा देते हैं। चीड़ें भी क्या करें अनेक बार तो इस आतंक के लिए उत्तरदायी लोग पकड़े जाकर भी किसी कारण विशेष से छोड़ दिए जाते हैं। चीड़ें बेचारी चुप्पी साधे सब कुछ सहन करती रहतीं हैं।

इनकी पीड़ाओं की सीमा यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। कई बार तो जीते जी ही स्थानीय अथवा बाहिरी लोग इन्हें कुल्हाड़ियों से काट डालते हैं। इनकी खाल को छीलकर इन्हें

छोटे छोटे हिस्सों में बांट दिया जाता है, और पत्थरों तथा चट्टानों से टकराने के लिए किसी उफनती नदी में फेंक दिया जाता है। जहां पत्थरों से टकराते चट्टानों से घिसते अनेक पहाड़ी दर्रों से गुजर कर जब ये नीचे मैदानों में अपने लक्ष्य पर पहुंचते हैं तो अपने आपको एक दूसरी ही दुनिया में पाते हैं। इनके जिस्म तपती दुपहरी में झुलस उठते हैं। उस समय अनायास ही अपने वतन की याद में इनका मन गुनगुना उठता है—दुबियाई पहाड़ों की छत पर ठहरी सी इनकी फर—इनमें फंसे बादलों अथवा धुंध के टुकड़े और इनके दामन में कुलबुलाते प्राकृतिक चश्में सब एक एक कर याद करना पीड़ित क्षणों को कुछ देर के लिए मोड़ देने के सिवा और कुछ नहीं। अक्सर तब इन्हें अपने दामन में बैठे पहाड़ी लोगों की याद हो आती है जो अपने में मस्त अपने मवेशियों को चरता हुआ छोड़कर स्वयं बांसुरी की धुन पर किसी गीत की पंक्तियां छेड़ देते हैं। शीतल हवा में धीरे धीरे झूलती इनकी फर पर बैठे इक्का दुक्का पक्षी टिटकिटाते रहते हैं। तब ये सोचने लगते हैं कि नागरिक सभ्यता में नहाए नागरिकों और उनके अपने दामन में बैठे इन नम्र भोले पहाड़ी लोगों में कितना फासला है। शायद उतना ही जितना फासला तय करके ऊंचे पहाड़ों से वे नीचे मैदानों में आये हैं आखिर ऊंचाई का भी तो कुछ फर्क होता ही है और पानी तो सदा ऊंचाई से ही बहता है—यह बात अलग है कि पहाड़ी धाराओं और मैदानी मटियाली नदियों में अंतर तो रहता ही है।

———

क्लीनिक में साहित्यकार

डा० आदर्श

कुछ लिखने की एक मानसिकता होती है; कम से कम अपने बारे में तो ऐसा ही समझता हूँ। इसी मानसिकता को हम 'मूड' कहते हैं, यह जब चाहो बना लो, वाली बात नहीं होती। न जाने कब बन जाता है और फिर ऐसा लगता है कि एक अदृष्य शक्ति है जो हमें किसी एकान्त में बैठ कर अभिव्यक्ति के लिये विवश करती है। कई दिनों से एक कहानी के ताने-बाने मैं अपने मस्तिष्क में बुन रहा था, आज क्लीनिक खोलते ही कुछ खाली समय पा कर सोचा उसे लिख ही डालूं, और मैंने लिखना शुरू किया।

"अर्पित नहीं समझ पा रहा था कि वह आखिर कैसे अपने पैरों पर खड़ा हो। हर समय वह एक लड़ाई लड़ रहा था, पर उसका ओर-छोर वह नहीं समझ पा रहा था। वह हर समय अपने में स्फूर्ति लाने का यत्न करता, वह खुद को यह महसूसने नहीं देना चाहता था कि वह इस लड़ाई में थक गया है या वह हार मानने को तैयार है। उसे लगता था कि कहीं न कहीं से हर समय उसकी प्रतीक्षा करती रुची उसे निरंतर देखती रहती है, अपलक बिल्कुल चुपचाप।" अभी इतना लिख ही पाया था कि एक आवाज आई—"आदाबर्ज डाक्टर साहब"। देखा तो सामने एक बुर्का एक बच्चे की अंगुली पकड़े क्लीनिक की सीढ़ियां चढ़ रहा है। बड़ी झुंझलाहट सी होती है, इसे भी इसी वक्त आना था, कहानी का सत्यानाश कर दिया। फिर सोचता हूँ मैं यहां बैठा किसलिये हूँ। आखिर इन्हीं के लिये ही तो। कहानी तो अपने घर पर भी लिख सकता था। मेरे भीतर के साहित्यकार और चिकित्सक का अन्तर्द्वन्द्व, यह सोचते ही शान्त हो जाता है और मैं उस रोगिणी की ओर ध्यान केन्द्रित करता हूँ।

वह मेरी ओर हाथ बढ़ा देती है। काफी तेज बुखार है। थर्मामीटर लगा कर देखता हूँ तो पूरे एक सौ चार डिग्री है।

"बुखार सर्दी से आता है।"

"हां डाक्टर साहब, हर तीसरे दिन चढ़ जावे है। तमाम बदन में हड़फूटनी भी है डाक्टर साहब।"

मैं उसे इन्जैक्शन लगा दवा भी देता हूँ। दवा खाने के ढंग को समझ कर फिर मुझ से पूछती है कितने पैसे हो गये डाक्टर साहब ।

—"तीन रुपये।"

—"बस इसके अब्बा के हाथ शाम को भिजवा दूंगी।"

—"दस मुझे यही बात तुम लोगों की पसंद नहीं आती। हमारे पेशे में उधार का कोई काम नहीं है।" मैं झुंझला कर कहता हूँ।

—"नहीं डाक्टर साहब ! आप तो हमारे पड़ोसी हैं। आप इतना भी यकीन नहीं करते। बस शाम को उनके आते ही पैसे आ जायेंगे।"

मैं जानता हूँ वह औरत चालाकी कर रही है। इसके पास पैसे हैं फिर भी यह झांसा दे रही है। ऐसे न जाने कितने मरीजों से हमारा पाला पड़ता है। बस पहली बार हम पहचान कर फिर भविष्य के लिये सावधान हो जाते हैं। एक बार के पैसे गये सो गये। अजीब तरह की खिन्नता मुझे अपने में महसूस होती है। कहानी भी गयी, पैसे भी नहीं मिले। आखिर मैं भी तो कुछ आय के लिये यहां बैठा हूँ, मेरे साथ भी कुछ लोगों की भूख का प्रश्न जुड़ा है और यहां मरीज हैं कि एक से एक। किसी का घरवाला कमाने गया है वह उसके आते ही रुपये दे देगी, किसी को जरा सी गले की दवाई चाहिये, किसी का कोई नहीं है सिर्फ परमात्मा है इसलिये उसी को हाजिर-नाजिर जान कर मैं दवाई दे दूं, किसी को जरा सी आंख में दवाई डाल दूं, और कान में दवाई डालने के पैसे तो, उसका दावा है कि कोई डाक्टर लेता ही नहीं। कुछ इतने उस्ताद मरीज मिलते हैं कि पहले दिन तो पैसे देंगे, फिर अगले दो दिन उधार, बस तनख्वाह दो दिन बाद मिलने ही वाली

है, फिर उनकी सूरत भी देखनी नसीब नहीं, कभी भूले भटके मिल भी गये तो छूटते ही कहेंगे, "कैसी दवाई दी डाक्टर साहब आपने, कोई फायदा ही नहीं हुआ। फिर जिला परिषद वाले डाक्टर को दिखाया, तब फायदा हुआ।" बस जी चाहता है सिर पकड़ कर बैठ जाओ और सब कुछ छोड़-छाड़ कर संन्यास ले लो। पिता अक्सर शिक्षा दिया करते थे, बेटा जरूरतमन्द की हमेशा सहायता करना, कभी दवाई या पैसे का लालच न करना। एक बार यही परोपकार बड़ा महंगा पड़ा। एक सज्जन पास वाली गली से निकलकर मेरे क्लीनिक के सामने से ही रिक्शा लेते थे। मेरे पास भी अक्सर आ जाते। कभी अपना, कभी अपनी पत्नी का इलाज करवाते रहे। धीरे-धीरे वह मेरे आत्मीय बन गये। उन्होंने बताया कि वह साड़ियों के व्यापारी हैं तथा अहमदाबाद में उनका बहुत बड़ा कारोबार है। वह यहां पिछले दो वर्ष से रह रहे हैं तथा यहां सभी बड़ी कपड़े की दुकानों पर साड़ियों के आर्डर बुक करते हैं। एक दिन आये, डाक्टर साहब ज़रा सौ रुपये दीजिये, आज इतवार होने से मुझे कमी पड़ गई और मैं बैंक से निकलवा नहीं पाया। मैंने उन्हें सौ रुपये दे दिये, जो दो दिन बाद उन्होंने मुझे लौटा दिये। फिर दस पन्द्रह दिन बाद बड़े ही परेशान से वह आये और बोले, डाक्टर साहब एक काम है आप से और मुझे बड़ी ही हिचक हो रही है। मेरे आग्रहपूर्वक पूछने पर बोले, मुझे" एक हज़ार रुपयों की सख्त ज़रूरत है, एक पेमैंन्ट आज ही देना पड़ रहा है, और जिसने आज रुपये देने का वायदा किया था, वह बाहर गया है, बैंक से सारे रुपये निकालने के बाद भी कमी पड़ रही है। हमारी तो इज्जत का सवाल हो जाता है डाक्टर साहब, आखिर जुबान के वायदे का ही तो हमारा व्यापार है, और इसी से हमारी साख है।" मैं उसके व्यवहार से प्रभावित हो गया। उसने मुझ से कहा बस दो दिन बाद ही वह सब पैसे मुझे प्रातः ही दे देगा, बस आज उसकी कठिनाई को चाहे किसी भी प्रकार दूर कर दूं। कुछ परोपकार की धुन मेरे सर पर इस तरह चढ़ी कि मित्रों से, अपने पिता जी से मांग-तांग कर मैंने उसको एक हजार

रुपया दिया, और फिर न वह सज्जन न उनकी पत्नी...किसी के भी दर्शन मुझे नहीं हुए। अब हालत यह है कि किसी मित्र के पांच रुपये मांगने पर भी मैं अपने दोनों हाथ जोड़ लेता हूँ। सोचता हूँ स्वार्थ आदमी को आदमखोर बना रहा है। हर कोई चौकन्ना है—कहीं वह 'झपट' न लिया जाये। वही सफल हैं जो अपने से पास वाले को सन्देह से देखता है और अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये अवसर की तलाश में लगा है। धोखों से पिटा हुआ आदमी, आदमी पर ही विश्वास छोड़ता जा रहा है तब मानवता का कोई औचित्य रह ही नहीं जाता। सभ्यता के विकास की आड़ में वास्तव में हम जंगली होते चले जा रहे हैं, जंगल का कानून ही लागू होता चला जा रहा है, अस्तित्व का संकट सबके सिर पर मण्डरा रहा है, सबल निर्बल को खा खा कर अपना उदर बढ़ाये चले जा रहे हैं। और उन्हीं के ऊंचे कठोर हाथों में मानवता के नारों वाले झण्डे हैं। पैसा मुख्य साध्य है, साधन कैसा भी क्यों न हो। समाज में भी सैद्धान्तिक व्यक्ति की तुलना में पैसे वाले अपना स्थान बढ़ाते जा रहे हैं और साथ ही पनपता चला जा रहा है धोखा, छल, प्रपंच, चोरी, डकैती, हत्या, लूटपाट, राहजनी, और चोरबाजारी।

मेरे व्यक्तित्व का एक पक्ष जहां अच्छा चिकित्सक बनना चाहता है तथा जिसे उपर्युक्त समस्याओं और हादसों से गुजरना पड़ता है, और जो मेरा अनुभव बन कर मुझे खुर्राट डाक्टर बनाने के चक्कर में लगे हैं, वही दूसरी ओर मेरे भीतर एक साहित्यकार भी है जो कुछ ऐसा लिखने के लिये निरन्तर बेचैन रहता है जो साहित्य में मेरी अपनी पहचान बना सके, एक दम से नया हो, अनूठा हो। स्वाभाविक रूप से लेखन का प्रश्न मेरी रोटी से नहीं बल्कि मेरी आत्मिक खुराक से जुड़ा है। जब मेरा पाठक मेरी अभिव्यक्ति को अपने अन्तर्मन की बात ही समझता है और मुझसे धन्यवाद के रूप में यह कहता है कि मैंने उसके हृदय को ही अभिव्यक्त किया है तो उसमें उतना ही सुख मिलता है जितना मेरा किसी रोगी के ठीक हो जाने पर उसकी दुआओं में। यह दोनों ही प्रकार के सुख मेरी थाती हैं, और शाब्दिक

अभिव्यक्ति से परे हैं। मुझे उन लोगों की सोच पर भी तरस आता है जो मेरी कविताओं को सुन कर प्रसन्न होते हैं और मुझसे सहानुभूति दिखाते हुये यह कह बैठते हैं, "यार तुम भी किस डाक्टरी वाक्टरी के चक्कर में फंस गये, तुम्हें तो कहीं प्रोफैसर वगैरा होना चाहिये था।" यानि कि जैसे सभी प्रोफैसर लेखक और कवि ही होते हों।

अपना चिकित्सा सम्बन्धी पांच-वर्षीय पाठ्यक्रम मैंने हरिद्वार के गुरुकुल कगड़ी विश्वविद्यालय में पूरा किया। उन दिनों जहां मैं विश्वविद्यालय में चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान पा रहा था वहीं दूसरी ओर हरिद्वार नगर मेरी साहित्यिक गतिविधियों का केन्द्र बनता जा रहा था। इसमें मेरा सहायक बना, हरिद्वार के गंगा मन्दिर के पुजारी का सुपुत्र कमल और हम दोनों ने वहां साहित्यिक संस्था 'वाणी' की स्थापना कर वहां नियमित मासिक गोष्ठियां आरम्भ कर डालीं। पण्डा पुत्रों के न पढ़ने के रिकार्ड को उसने एम० ए० करके भंग किया और फिर प्रवक्ता बन कर पी—एच० डी० की तैयारी में भी लग गया। वाणी संस्था के ही कार्यक्रमों के अन्तर्गत कितने ही महान साहित्यकारों के दर्शन हमने किये और अनेक संस्मरण ऐसे हैं जो उन महापुरुषों की स्मृति सदा जगमगाये रखते हैं। डा० रामधारी सिंह दिनकर, श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० नगेन्द्र, डा० रामदरश मिश्र, डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, फादर कामिल बुल्के, डा० प्रभाकर माचवे आदि कितने ही नाम हैं जो मेरी स्मृति से जुड़े हुये हैं।

डा० प्रभाकर माचवे जी से मेरी पहली मुलाकात कमल ने कराई थी। मेरा नाम सुनकर बोले, आपका नाम तो कहीं पढ़ा हुआ लगता है। मैं संकोच में चुप था, इतना महान साहित्यकार और केन्द्रीय साहित्य अकादमी का तत्कालीन सचिव भला मुझ जैसे अदना जीव का नाम कहां से जानेगा, जिसकी एक भी रचना अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। फिर कुछ सोच कर बोले, जम्मू से कुछ पुस्तकों की पाण्डुलिपियां आई थीं। मैंने संकोच में ही उन्हें बताया कि मैंने भी अपनी एक पुस्तक की पाण्डुलिपि

जम्मू साहित्य अकादमी को अनुदान देने के लिये भेजी हुई है। इस छोटी सी बात के लिये उनकी विलक्षण स्मृति देख कर मैं चकित रह गया, और फिर तो अनेक बार मुझे उनका आशीर्वाद प्राप्त हुआ। इसी प्रकार फादर कामिल बुल्के के प्रकाण्ड पाण्डित्य से ही नहीं उनकी प्रियता से भी मेरा परिचय हुआ। कमल के घर पर वह भोजन के लिये आमन्त्रित थे। उन दिनों मैंने लैनिन कट दाढ़ी रखी हुई थी, मेरे पास आकर मेरी दाढ़ी को छूते हुए अपनी लम्बी दाढ़ी की तरफ इशारा करके बोले, इसे मेरी जितनी रखना, और सब ठठा कर हंस पड़े थे। इन महान साहित्यकारों से मिलकर यह बात और पुष्ट होती है जो हमने बचपन में पढ़ी थी, 'विद्या ददाति विनयं' जो जितने महान हैं वह स्वाभाविक रूप से उतने ही विनम्र हैं, उतने ही सहज हैं, अपने किये को अभी भी वह बहुत थोड़ा मानते हैं, बेचैन हैं कुछ नया करने को, कुछ नया लिखने को, कुछ नया खोजने को, संसार की उस अदृश्य पुस्तक में से जिसके पन्ने उन्हें हर समय अपने परिवेश में फरफराते नज़र आते हैं। यह उन लोगों के लिये विचार का विषय है जो एक पुस्तक, या छुटपुट रचनाएं लिखकर खुद को मुर्गे की अकड़ से चलते हुए महान साहित्यकार समझते हैं। और यह स्वनाम-धन्य साहित्यकार यही अकड़ लिये हुऐ समय के प्रवाह में टूटकर बह जाते हैं, किसी को पता भी नहीं चलता। शेष बच रहता है विनम्र मुद्रा लिये अपने अमर साहित्य की सुगन्ध बिखेरता हुआ मनीषी।

हरिद्वार नगर अपने आप में एक पाठशाला है जिसमें मानव स्वभाव के सब रूप अधिक उभर कर सामने आते हैं। गंगा तट पर भक्ति-भावना से ओत-प्रोत दोनों हाथ जोड़े, सिर झुकाये प्रभु का धन्यवाद करते अनगिनत चेहरे, साधु-संन्यासियों की भीड़-भाड़, मठ, अखाड़े, पण्डे, पुजारी और भी न जाने क्या-क्या। सन् चौहत्तर का कुंभ भी मैंने देखा है। हर अखाड़े के आगमन पर हाथियों, रथों और देश के कोने-कोने से आये दस-दस, बारह-बारह बैण्डों का विशाल जुलूस, भभूत मले नागों की लम्बी-लम्बी कतारें,

बेतहाशा लुटती हुई दौलत का अम्बार। एक घटना मुझे अक्सर याद आती है। मैं और कमल मन्दिर में बैठे गप मार रहे थे इतने में धोती कुर्ता पहने एक आदमी आया, प्रतिमा को प्रणाम कर प्रसाद पा कर बोला, पण्डित जी क्या आप मेरे साथ बाजार तक चलेंगे। मेरे मित्र ने पूछा क्यों क्या बात है? तो बड़े श्रद्धा भाव से बोला, "भगवान जी को जूते चढ़ाने हैं।" कमल उसके साथ बाजार गया और जब लौटा तो 'भगवान' जी के पैरों में नब्बे रुपये पिच्चानवे पैसे के फर्स्ट क्लास चरमराते जूते थे। न जाने कब तक भारतवासी इस तरह धर्म के नाम पर अपनी मासूमियत का परिचय देता रहेगा। तमाम आधुनिकताओं के बावजूद वह मन के किसी कोने में दबे इस संस्कार से पिण्ड नहीं छुड़ा पाया है। यह संस्कार इतने प्रबल हैं कि इस विषय में कोई तर्क सुनने को वह प्रस्तुत ही नहीं है और इसी भोलेपन का परिणाम है पण्डा समाज जिसने ब्राह्मणत्व अर्थात विद्वान के कर्त्तव्य—विद्या पढ़ना तथा उसको बांटना, इन सब को छोड़कर केवल धन की लूट-खसूट ही को अपना कर्त्तव्य मान लिया है। हरिद्वार के स्टेशन पर ही गिद्ध दृष्टि से तकते अपने जजमानों को देखकर, या किसी एक जजमान पर अपना-अपना अधिकार जमाने के युद्ध में लगे योद्धाओं को देखकर मन में बार-बार यह इच्छा होती थी कि उन जजमानों से पूछूं कि आखिर आप कब तक 'माल' बनना पंसद करते रहेंगे। जिस आय में परिश्रम नहीं किया जाता, और जो बैठे ठाले मिलती जाती है, उसका व्यय भी उसी प्रकार होता है, इसीलिय पण्डा समाज की विकृति स्वभाविक रूप से समाज को घिनौना बनाये जा रही है तो क्या आश्चर्य, और उस पर सरकार की कृपा यह कि धार्मिक आय पर कर भी नहीं लेती। मन्दिरों में चढ़ती अपार धन दौलत परिवार को बैठे-ठाले पालने का सुलभ साधन है, पर पण्डित जी को यह भी कष्टप्रद लगता है कि मन्दिर में बैठे रहें, इसलिये हर वर्ष मन्दिर ठेके पर चढ़ाकर मजे करते हैं। अभी पिछले दिनों पढ़ रहा था, तिरुपति नगर में श्री वेंकटेश्वर देवालय में चढ़ावे के रूप में प्रतिवर्ष जो सोलह करोड़

रुपये आते हैं, उनका आंध्र प्रदेश सरकार ने अच्छे ढंग से उपयोग करने की योजना बनाई है। मन्दिर की संचालन समिति, शिक्षा तथा वित्त विभाग धर्मस्व से संबंधित व्यक्तियों की सलाह से एक नीति निर्धारित की गई है। नगर चढ़ावे का चालीस प्रतिशत भाग नियमित रूप से बेंकटेश्वर देवालय पर खर्च करेगा। आगामी वित्तीय वर्ष में देवालय अपनी आय का दसवां भाग एक करोड़ पचास लाख रुपये धार्मिक ग्रन्थों के प्रकाशन तथा लेखकों और विद्वानों को सम्मानित करने पर खर्च करेगा। देवालय बहुत सी पुस्तकें विना मूल्य वितरित करेगा, डेढ़ करोड़ रुपये आंध्र प्रदेश के मन्दिरों के जीर्णोद्वार पर खर्च होंगे। डेढ़ करोड़ रुपये पुजारियों, कलाकारों और विस्थापितों पर खर्च किये जायेंगे। संस्कृत पाठशालायों और अकादमियों के लिये पर्याप्त धन सुरक्षित है, आदि। यह एक ऐसा पग है जिसका स्वागत होना चाहिये तथा सरकार को चाहिये कि सभी मन्दिरों के विषय में ऐसी नीति का निर्माण करे जिससे सार्वजनिक आय को भगवान के नाम पर चन्द धूर्त न डकार सकें, अपितु उस आय का उपयोग सार्वजनिक विकास कार्यों के लिये किया जा सके।

डिग्री लेने के बाद, प्रश्न उठा प्रैक्टिस कहां की जाये। घर मुजफ्फर नगर में अपना था, भाई बहिनें घर से दूर अतः आदर्श कल्पना मन में उठी कि मुजफ्फर नगर के समीपवर्ती किसी गांव में प्रैक्टिस की जाये, अखवारों में नेताओं की शिकायत अक्सर पढ़ने को मिली थी कि डाक्टर गांवों में नहीं जाते, उनमें सेवा भावना नहीं है आदि। सो हमने समीपवर्ती गांव पुरबालयान में अपनी प्रैक्टिस का अखाड़ा जमाया। पर वहां डाक्टर सुक्खा जी का राज्य था। वह रजिस्टर्ड डाक्टर भी नहीं थे, उन्होंने अपनी दीक्षा एक अपने ही जैसे चालू कम्पाउंडर साहब से ली थी और उनके गुरु ने भी यह विद्या इसी प्रकार की 'गुरु परम्परा' में पाई थी। गांव में प्रैक्टिस आरम्भ करते ही हमारे बारे में यह कथा प्रचलित करदी गई कि यह डाक्टर साहब शहर में प्रैक्टिस न चलने की वजह से गांव में आये हैं, वरना साहब, कौन शहर छोड़

कर इतनी दूर गांव में आता है। डाक्टर सुक्खा जी ने एक-एक नये पैसे की गोलियों से अपनी प्रैक्टिस में चार चांद लगा रखे थे, केस बिगड़ जाने पर यही सुनने को मिलता, बेचारे डाक्टर सुक्खा ने तो बड़ी कोशिश की, पर भाग्य ही खराब था तो कोई क्या करे। वहुत होता तो लोग शहर दौड़ते, वहां भी किसी अच्छे डाक्टर की शरण में नहीं बल्कि किसी मशहूर आर० एम० पी० डाक्टर की शरण में। एक बार ऐसे ही एक वच्चे का केस जव सुक्खे से विगड़ा तो वह लोग मेरे पास आये। आकर बोले डाक्टर साहब आप इसे बचा सको तो बता दो वरना हम इसे शहर ले जायें। शहर का यह रोब सुनकर एक बार तो गुस्सा आया। सोचा कह दूं ले जाओ। फिर सम्भलकर बोला मुझे दो घंटे का समय दें, फिर आप चाहें तो उसे ले जायें। देखा तो सस्ती दवा के कारण बच्चे के शरीर में ऐंठन हो रही थी तथा वच्चा आंखें पलट रहा था। कुछ उपचार के बाद दो घण्टे में वच्चे की तबियत सम्भली, फिर कुछ दिन में मेरे इलाज में बच्चा ठीक हो गया। मेरे कुछ पैसे अभी भी उन्होंने देने थे। ठीक एक माह बाद क्या देखता हूं कि बच्चा फिर बीमार है और उसके संरक्षक फिर उसे डाक्टर सुक्खे की शरण में ले जा रहे हैं। मुझे बताया गया कि अगर आपको प्रैक्टिस जमानी है तो आपको दवाइयां सुक्खे की तरह उधार बांटनी होंगी और फिर फसल आने पर मरीज के पीछे-पीछे पैसों के लिये भागना होगा। यह स्थिति समझकर मैंने अपना काम समेटा और शहर आ गया। कितनी भावुकता और आदर्श कल्पनाएं लिये मैं गांव गया था। पर सब की सब धरती पर सटपटाती रह गईं।

भ्रष्टाचार की दीमक जिस तरह हमारे देश को खोखला करती आ रही है, उससे सभी क्षेत्रों में चिंता व्याप्त है किन्तु उपाय किसी को समझ में नहीं आता। सरकारी अस्पतालों और डिस्पैन्सरियों की दवाइयां आधे दामों पर शहर के मेडिकल स्टोरों में आकर बिक जाती हैं और बेचारा गरीब, सरकारी डाक्टर की अत्यन्त कृपा से प्राप्त महंगे नुस्खे के परचे को उन चमचमाते स्टोरों

पर ले जाकर जब दवा का दाम पूछता है तो वह बेचारा उस परचे को मोड़-मरोड़ कर अपनी जेब में ही रखना बेहतर समझता है। अतः हताश होकर प्राइवेट प्रैक्टीशनरों के पास आता है। अच्छे डाक्टरों के पास उनकी फीस के डर से नहीं आता। फिर बेचारे के भाग में रह जाते हैं रजिस्टर्ड या अनरजिस्टर्ड डाक्टर, जो उसकी जिन्दगी से खिलवाड़ करते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि डाक्टर अपनी फीस की राशि कम करे या सरकार इस दिशा में पग उठाये तथा दूसरी ओर सरकार बिना कोई चिकित्सा पाठ्यक्रम पास किये, व्यक्ति को चिकित्सा कार्य करने की अनुमति न दे। स्थिति यह है कि हर बड़े शहर में (गांव की तो बात ही अलग है) चमचमाती प्रैक्टिस ऐसे ही धूर्त चिकित्सकों की है जिनके पास कोई डिग्रीं नहीं है। इसका परिणाम पाठ्यक्रम पास किये चिकित्सकों को भुगतना पड़ता है तथा हमारे देश की प्रतिभा विदेशों में पलायन कर जाती है।

क्लीनिक अभी शहर में खोला ही था। एक फटेहाल आदमी एक दिन अपनी पत्नी और छोटी सी बच्ची को लेकर मेरे पास आया। तीनों ही बीमार थे। वह परेशान सा था। मैंने जब सहानुभूति से उसका हाल पूछा तो उसने बताया कि वह मेरठ का रहने वाला है और दूध बेचने का धन्धा करने मुजफ्फर नगर आया है। किन्तु आते ही सब बीमार पड़ गये, भैंसें भी स्थान बदलाव के कारण शायद ठीक दूध नहीं देतीं, उसके पास रोटी के लिये भी पैसे नहीं हैं। मेरी सहानुभूति पा कर वह फफक-फफक कर रो पड़ा। मैंने उसे सांत्वना दी, कुछ सहायता भी की तथा दो तीन दिन में सब ठीक भी हो गये। कुछ ही दिनों में वह विषम परिस्थितियों पर विजय भी पा गया एक दो बार वह मेरी अनुपस्थिति में क्लीनिक पर दूध भी दे गया। फिर एक बार ईद के मौके पर एक बड़े से डिब्बे में मोटे चावल, छुहारे, चीनी आदी लेकर आया। मैंने पूछा, "यह क्यों", तो संकोच से बोला, "ईद है न डाक्टर साहब।" मैंने कहा तुम यह सब क्या करते हो। ऐसे मैं अब कुछ नहीं लूंगा। उसे कुछ चोट लगी, बोला डाक्टर साहब हम गरीब

आपको दे ही क्या सकते हैं, आप भी ऐसा कहेंगे, और गला रुंध जाने के कारण वह बोल न सका । मेरा आशय उसकी गरीबी को कुरेदना तो न था। मैंने उसके कन्धे पर हाथ रख कर कहा, अच्छा मैं जरूर खीर बनवा कर खा लूंगा। वह मुझे खुश सा जान पड़ा और फिर वह चला गया। घर आकर मैंने अपनी पत्नी से खीर बनाने को कहा तो वह बेचारी आश्चर्य से मेरा मुंह ताक रही थी, क्योंकि खीर मैं पसन्द ही नहीं करता, पर सच कहता हूँ कि उस दिन खीर का जो स्वाद था, वह क्या मैं शब्दों में व्यक्त कर सकूंगा ? शायद कभी नहीं।

नये बौद्धिकों की नई पीढ़ी

ओम्कार काचरू

हताश हो कर मैंने ओले बीनकोप्प के लेखक, श्री एरविन श्ट्रिटमाटर से मिलने की आशा छोड़ दी थी। ओले बीनकोप्प नामक उपन्यास आधुनिक जर्मन साहित्य की एक अमर रचना बन चुका है।...लेकिन एक दिन सहसा मेरी यह निराशा आशा में बदल गई। मुझे और मेरे एक इराकी पत्रकार साथी श्री अनवर अलघसानी को, कालेज आफ सालिडोरिटी ने (जहां दस अफ्रो-एशियाई देशों के लगभग ३० पत्रकार, पत्रकारिता का प्रशिक्षण ले रहे थे) पत्रकारिता के संगठन, संपादन, रिपोर्टिंग आदि का अमली अनुभव प्राप्त करने के लिये एक सुप्रसिद्ध अखबार डेर ज़ोनटाग (Der Sonntag) से नत्थी कर दिया। डेर ज़ोनटाग, जर्मन जनवादी गणतंत्र की राजधानी बर्लिन से प्रकाशित होने वाला अत्यन्त लोकप्रिय और बहुत बड़ी संख्या में छपने वाला एक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक साप्ताहिक है।

हमारे कालेज के एक अध्यापक, श्री गेरहार्ड शीज़्ज़र, जो वहां के एक कर्मठ एवं विनोदप्रिय पत्रकार भी हैं और जो हमारे कालेज के सबसे लोकप्रिय अध्यापक थे, हमारे साथ थे। उन्होंने साप्ताहिक के अनुभवी तथा वयोवृद्ध प्रधान संपादक श्री बेरण्ट फान क्रूगेलगेन के साथ हमारा परिचय कराया, और लगे हाथों उन्होंने मेरे अपूर्ण मनोरथ का अर्थात वहां के बौद्धिकों से (प्रोफेसरों, विद्वानों, लेखकों, कलाकारों आदि से) मिलने का भी उनसे ज़िक्र छेड़ा। गंभीर मुद्रा वाले श्री क्रूगेलगेन ने अपनी सौम्य मुस्कान में तत्काल ही 'तथास्तु' कहा। मैंने इसको, एक भारतीय अतिथि के प्रति शिष्टाचार मात्र समझा और इस बारे में सब कुछ

भूल गया। लेकिन मैं कितना गलत था यह मुझे दूसरे ही दिन पता चला।

दूसरे दिन ज्योंही मैं डेर ज़ोनटाग के दफ्तर में दाखिल हुआ एक सुखद आश्चर्य मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। अपनी स्नेहसिक्त मुस्कान से हमारा स्वागत करते हुये क्रूगेलगेन साहब ने मुझे एक कागज़ थमा दिया। इसमें न केवल उपन्यासकार श्ट्रिटमाटर से मुलाकात करने की ही तिथि टंकित थी, बल्कि श्रीमती क्रिस्टा वोल्फ (जिन्होंने अपने पहले उपन्यास डिवायडेड हेव्न—विभाजित आकाश—द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की), प्रोफेसर मोंडे (बौद्ध धर्म के एक सुप्रसिद्ध मनीषी जिनको कवीन्द्र रवि ठाकुर से मिलने और उनके शांति-निकेतन में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था), प्रोफेसर जिट्टे (एक सुप्रसिद्ध चित्रकार), गेरहार्ड गायर (एक वयोवृद्ध तथा विख्यात मूर्तिकार) और अन्य ऐसे ही कई महानुभावों से मिलने का पूरा कार्यक्रम दर्ज था। कार्यक्रम देख कर मुझे कई क्षणों तक अपनी आंखों पर विश्वास नहीं हुआ।

जुलाई की 4 तारीख...एक सुहावना दिन। मेघाच्छादित आकाश, हल्की फुहार और चारों ओर सद्यःस्नात हरियाली ! यह वातावरण एक धूमिल रोमानी एहसास पैदा करने के लिये काफी था। ऐसे में, सबसे बड़े जर्मन लेखकों में से एक अर्थात् श्ट्रिटमाटर से मिलने का जोश (जिनकी अमर रचना ओले बीनकोप्प मैंने दो बार पढ़ी थी) भला किसके होश गुम न कर दे।

अपने इराकी मित्र और योग्य दुभाषिया डा. (श्रीमती) रोज़मेरी क्लाउस के हमराह हम ज़ोनटाग के दफ्तर से निकल पड़े और ठीक दोपहर के 3 बजे हमने श्री श्ट्रिटमाटर के बर्लिन स्थित फ्लैट की घंटी बजाई (वैसे लेखक सपरिवार अपने गांव में ही रहते हैं)। उनका यह फ्लैट बर्लिन की एक अत्याधुनिक और शानदार बस्ती कार्ल मार्क्स आल्ले में है। यह इलाका बीसियों वर्षों तक, यहां तक कि दूसरे महायुद्ध की समाप्ति के बाद तक भी, बर्लिन की एक बहुत ही गंदी बस्ती थी। यहां भिखारी तथा निर्धन मजदूर अपना कठिन जीवन गुज़ारा करते थे। लेकिन अब इस बस्ती की

काया पलट देखकर सहसा इस बात पर विश्वास करना असंभव सा है। बहरहाल, घंटी बजाते ही एक विशालकाय, घनीमूंछों और गहरी आंखों वाला व्यक्ति द्वार पर नमूदार हुआ, अपने अधरों पर एक कोमल मुस्कान लिये हुए। वह थे श्ट्रिटमाटर साहव जो कई मंज़िला इमारत से उतर कर (जहां उनका फ्लैट है) स्वयं हमारा स्वागत कर रहे थे।

लेखक के सुसज्जित पुस्तकालय में उनकी सुन्दर, युवा पत्नी ने हमारा स्वागत किया। श्रीमती श्ट्रिटमाटर के अतिथि-सत्कार से हम ऐसा महसूस करने लगे जैसे हम अपने घर में बैठे हैं। वह अच्छी अंग्रेज़ी बोलती थी, और स्वयं लेखक को भी इस भाषा का थोड़ा वहुत ज्ञान था। इसलिये दुभाषिये की आवश्यकता नहीं पड़ी। लेखक की कुशल गृहिणी, हमारे बैठते ही जान चुकी थी कि हम एक औपचारिक मुलाकात के लिये नहीं वल्कि किसी संजीदा वातचीत के लिये आये हैं। इसीलिये शायद उन्होंने गर्म काफी का एक बड़ा पाट लाकर मेज़ पर रख दिया और हम गर्म गर्म काफी का आनन्द लेने लगे। श्री श्ट्रिटमाटर ने पाइप मुंह में लगाई और वह अपनी वड़ी कुर्सी पर जम कर बैठ गये। उनकी मुख-मुद्रा शांत और गंभीर थी। मैंने महसूस किया कि लेखक आज अपने एक बिरले मूड में है। इस वातावरण ने मुझे काफी आश्वस्त किया और मैंने इस मूल्यवान अवसर का अधिक से अधिक लाभ उठाने का फैसला कर लिया। इसलिये कुछ सम्हल कर, (मुझे डर था कि लेखक का मूड खराब न हो जाय) स्वाभाविक दिखने वाली आवाज़ में मैंने बातचीत शुरू की।

पहले ही सवसे अहम विषय को, अर्थात् उनके उपन्यास 'ओले बीनकोप्प' का जिक्र छेड़ना मैंने उचित न समझा। इसलिये मैंने लेखक से पूछा कि वह कहानी के क्षेत्र में इतनी देर करके क्यों आये? उनका उत्तर काफी दिलचस्प था। उन्होंने कहा कि पिछले दो दशकों में नये जर्मन राज्य, जर्मन जनवादी गणतंत्र में, चरित्रों तथा पात्रों ने, अर्थात् वहां की जनता ने अपनी एक विशिष्ट एवं निश्चित चारित्रिक विशेषता प्राप्त कर ली है। इसलिये अब स्पष्ट

रूप से और आत्म विश्वास के साथ उन पात्रों एवं चरित्रों का चित्रण करने में वह अपने को समर्थ पाते हैं। यही कारण है कि वह साहित्य के इस क्षेत्र में अपेक्षाकृत देर से दाखिल हुए।

अब मैंने घुमा फिरा कर बात करना छोड़ दिया और सीधा मूल विषय, अर्थात् 'ओले बीनकोप्प' तथा समसामयिक जर्मन साहित्य की ओर आ गया। क्या हम आपकी ओले बीनकोप्प के बारे में बातचीत कर सकते हैं? प्रश्न सुनते ही श्री श्ट्रिटमाटर की गहरी नीली आंखों में एक अनोखी चमक आ गई, और उनके होटों पर मुस्कराहट की एक रेखा खिच गई। अपने बड़े से किसानी हाथ में पाइप को दबाते हुए वह जर्मन में बोले, "या, या वर्रूम निष्ट।" इतनी जर्मन तो मैं भी समझने लगा था : "हां, हां क्यों नहीं", 'ओले बीनकोप्प' के जनक के इन चार शब्दों से मुझे ऐसा लगा कि शायद वह इसी अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे।...श्रीमती श्ट्रिटमाटर ने पाट को फिर से गर्म काफी से भर दिया। मैंने अपनी नोटबुक निकाली, और मेरे मित्र श्री अल-घसानी ने अपना कैमरा संभाला। हम सब अब संजीदा बातचीत के लिये तैयार थे। जल्दी ही इस बातचीत ने एक साक्षात्कार का रूप धारण कर लिया।

श्री श्ट्रिटमाटर से मैंने जो पहला प्रश्न पूछा वह था उनके उपन्यास से संबन्धित उस जबरदस्त बहस के संबन्ध में जो 'ओले बीनकोप्प' के प्रकाशित होने पर शुरू हुई थी। बहस उपन्यास कि दुखान्त अवसान को लेकर छिड़ी थी, विशेषकर उपन्यास के नायक और प्राण 'बीनकोप्प' की मृत्यु के बारे में। इस उग्र वादविवाद के प्रति लेखक की क्या प्रतिकिया थी, मैंने पूछा? लेखक के उत्तर के पहले एक अजीब सी खामोशी छा गई; श्वासों की आवाज तक सुनाई देने लगी। क्षणमात्र के लिये मुझे भय लगा कि शायद मैंने एकदम गलत प्रश्न पूछा है। तब सहसा ही, लेखक के भारी-भरकम शरीर के बोझ से उनकी कुर्सी चर्मरा उठी। वह सामने को झुक आये और बोले, "जहां तक किसी चरित्र के निर्माण और उसके चित्रण का ताल्लुक है, लेखक दूसरे लोगों की इच्छा-अनिच्छा से बंधा नहीं रह सकता। यह बात केवल लेखक पर छोड़ दी जानी

चाहिये। मुझे इस बात से काफी सन्तोष मिला जब अनेकानेक लोगों ने मुझ से कहा कि 'ओले बीनकोप्प' पढ़कर कई रातों तक उन्हें नींद नहीं आई। और मैं यह बात जानता हूँ कि इस उपन्यास के अन्त से, बहुमत मेरे साथ है..." अपने इसी सन्तोष को व्यक्त करने के लिये शायद उन्होंने अपनी पाइप में तम्बाकू भर लिया और दो चार कश खींचने के बाद वह फिर बोले, "अन्नाकारेनीना ने भी तो अन्त में आत्महत्या कर ली। शोलोकोव और रूसी साहित्य की अमर कृति 'और दोन खामोश बहता रहा' का नायक भी कम्युनिस्ट नहीं बना। इस तथ्य से कई रूसियों को सदमा पहुँचा।"

इस प्रसंग में मैंने श्ट्रिटमाटर साहब को, आधुनिक भारतीय साहित्य की अमर रचना स्वर्गीय प्रेमचन्द के गोदान और इस उपन्यास के अमर नायक 'होरी' की बात सुनाई। जब मैंने उनसे कहा कि उनके 'ओले बीनकोप्प, तथा 'गोदान' के 'होरी' में, और इन दो उपन्यासों के 'मेरेटके' तथा 'धनिया' और अन्य मुख्य पात्रों में एक अद्भुत समानता है, तो वह बेहद प्रभावित हुए। उन्होंने 'गोदान', 'होरी' और प्रेमचन्द के बारे में प्रश्नों की झड़ी लगा दी। भारत की इस महान साहित्यिक रचना का जर्मन अनुवाद न होने पर उन्होंने दुख और क्षोभ भी व्यक्त किया।

दूसरा प्रश्न मैंने 'ओले बीनकोप्प' के संबंध में ही पूछा। उन्होंने इस अद्भुत पात्र की रचना कैसे की? क्या इस पात्र को उन्होंने कहीं देखा है, या यह उनकी कल्पना की उपज है।

"इस पात्र की रचना मेरी कोरी कल्पना की उपज नहीं है", श्री श्ट्रिटमाटर ने स्पष्ट उत्तर दिया, "और 'ओले बीनकोप्प' कोई व्यक्ति विशेष भी नहीं है जो किसी खास जगह रहता है। वह एक ठोस, संयुक्त पात्र है। आपने ग्रामवास के दौरान विभिन्न स्वभाव तथा चरित्र वाले अनेकानेक व्यक्ति मेरे संपर्क में आये। मैंने उनका गहरा अध्ययन किया, और इसी अध्ययन की अभिव्यक्ति एवं उपज है 'ओले बीनकोप्प'। वह मेरा मानस पुत्र है, मेरी साहित्यिक कृति। मेरे उपन्यास को असंख्य किसानों ने पढ़ा और उन्होंने मुझ से कहा

कि वे ठीक 'वीनकोप्प' जैसे ही हैं। ..'' लेखक के हर शब्द से अपार संतोष झलक रहा था, और मैंने महसूस किया कि 'ओले वीनकोप्प' की रचना पर उनको कितना गर्व है।

श्री श्ट्रिटमाटर की रचना प्रक्रिया (पाण्डुलिपि तैयार करना आदि) के बारे में अपनी जिज्ञासा को मैं दबा न सका। इसलिए मैंने उनसे पूछा कि वह कैसे लिखते हैं, और पाण्डुलिपि कैसे तैयार करते हैं।

जवाब में उन्होंने कहा, "उपन्यास लिखने के लिये मैं नोट आदि नहीं लेता। लेकिन मैं काफी श्रम करता हूं। मैं सुबह 5 बजे अपना काम शुरू करता हूं और 12 बजे तक अपनी मेज़ नहीं छोड़ता। हर शाम मैं अपने घर के अश्व-पालन फार्म पर बिताता हूं...। किसी रचना की पाण्डुलिपि समाप्त करने के बाद, मैं इसके विभिन्न भागों को लेकर कांट छांट करता रहता हूं। 'ओले वीन-कोप्प' की पाण्डुलिपि मैंने 16 बार ठीक की है।...टेलिविज़न और सिनेमा की होड़ ने हमारे काम को और भी कठिन बना दिया है। अपने उपन्यास के पहले दस बीस पन्नों में ही यदि लेखक, पाठक के मन को पकड़ न सका तो वह गया। लेकिन हमारा एक काफी ठोस और दृढ़ आधार भी है : यह है हमारे असंख्य जागरूक और विश्वस्त पाठक...यही बात पश्चिम जर्मनी के बारे में नहीं कही जा सकती जहां, अश्लील यौन विकारों से पूर्ण और रोंगटे खड़े करने वाले सस्ते अपराध साहित्य की भरमार है। इसलिये हमारा कठिन परिश्रम व्यर्थ नहीं जाता। उसका मीठा फल हमको अवश्य मिलता है। मेरा 'ओले बीनकोप्प' दुनिया की कई भाषाओं : अंग्रेजी, फ्रांसीसी रूसी तथा विभिन्न स्लाव भाषाओं में अनूदित हो चुका है। केवल रूसी भाषा में इसकी 40 लाख प्रतियां बिक चुकी हैं।..."

श्रीमती श्ट्रिटमाटर भाग कर किचन में गईं और गर्म गर्म काफी से पाट भर लाईं। एक कुशल गृहिणी के साथ ही साथ वह वार्तालाप में भी बहुत कुशल हैं (शायद जरूरत से ज्यादा कुशल)। इसलिये हमारी बातचीत में वह बहुत सहायक सिद्ध हुईं। गर्म गर्म

काफी का एक और दौर शुरू हुआ और इसी में मैंने एक और प्रश्न पूछा लेखक से। प्रश्न, आधुनिक साहित्य में विभिन्न धाराओं और खासतौर से वहुचर्चित प्रयोगवाद के बारे में उनकी राय से संवन्धित था।

श्री श्ट्रिटमाटर का उत्तर बिलकुल सीधा और स्पष्ट था। वह बोले : "साहित्य में, विशेष कर, उपन्यास के क्षेत्र में, मैं नये नये प्रयोग करने के पक्ष में हूं। लेकिन शर्त यह है कि प्रयोग कथ्य या विषय को धूमिल तथा अस्पष्ट न बना दे। कथ्य विल्कुल साफ होना चाहिये। हम हेमिंग्वे और पिकासो को ही देखें। अपने अपने क्षेत्र में दोनों उस्ताद माने जाते हैं। हालांकि उनमें से एक यथार्थवादी और दूसरा ठेठ प्रयोगवादी है।...एक बात जो बिल्कुल साफ है वह यह है कि अच्छा साहित्य जिन्दा रहेगा, लेकिन दुर्बोध तथा बुरा साहित्य जीवित नहीं रहेगा। आधुनिक लेखन में जो कुछ अच्छा है मैं उसका स्वागत करूंगा, उसे अपना भी लूंगा, लेकिन मेरा मन्तव्य, कथ्य स्पष्ट रहना चाहिये। और हमारे यहां भी कई अच्छे लेखक नये और साहसिक प्रयोग करते हैं जैसे श्रीमती क्रिस्टा वोल्फ और हर्मन कांट।

वातचीत करते करते तीन घन्टे से अधिक समय बीत चुका था। इसलिए मैं महसूस करने लगा कि मैं श्री श्ट्रिटमाटर का अधिक समय ले रहा हूं। मेरा इराकी साथी काफी फोटोग्राफ लेकर बैठ चुका था और हमारी दुभाषिया, डा० क्लाउस, पूरे समय लगभग खामोश ही रही थीं। इसलिए मैंने क्षमा-याचना के कुछ रस्मी जुमले दोहराये। लेखक महोदय हमको जल्दी छोड़ने के मूड में नहीं थे। बोले, कि वह अपनी पत्नी और सब से छोटे लड़के याकोव को लेकर अपने गांव 'शूलसेनहोफ' से सिर्फ हमसे मिलने और बातें करने के लिये र्बालन आये हैं। इसलिये हमारे चाहने पर भी वे हमको "इतनी जल्दी" जाने नहीं देंगे। मन ही मन तो मैं खुश ही हुआ। दो एक प्रश्न रह गये थे। लगे हाथों उनका भी उत्तर मिले तो अच्छा ही है।...मैंने उनसे पूछा कि क्या

वह किसी लेखक अथवा लेखकों से प्रभावित हुये ? यदि हां तो किससे या किनसे ?

श्री शट्रिटमाटर बोले : "यह ज़रा टेढ़ा प्रश्न पूछा है आपने। खैर मैं इतना तो बता ही सकता हूं कि मैं गोइटे, तॉलस्ताय, शेक्सपियर और एक आधुनिक रूसी लेखक प्रिशविन (सन् 1962 में जिनका देहान्त हुआ) को बहुत ज्यादा पसंद करता हूं।..."

इस प्रसंग में जब उन्होंने रवि ठाकुर का नाम लिया तो मैं खुशी से झूम उठा। वह खड़े हो गये और अपनी एक पुस्तकों की अलमारी में से कुछ पुस्तकें निकाल लाये। सगर्व बोले : "यह देखिये, ये हैं आपके महान लेखक की रचनाओं के जर्मन अनुवाद" नाम थे लेबेन्ज़वाइज़हाइट (जीवन का ज्ञान), डेर सूनेमेंडे मोण्ड (दूज का चान्द) और गीतांजलि तो थी ही। अपनी कुर्सी पर बैठ कर उन्होंने अपने कोट की अन्दर की जेब से दो गुटके निकाले और मुझे दिखाये। मैंने उनसे पूछा कि ये क्या हैं। उन्होंने श्रद्धा-मिश्रित स्वर में कहा कि ये रवीन्द्र नाथ ठाकुर की कुछ रचनाओं में से लिये गये कतिपय सुन्दर उद्धरणों के संकलन हैं। इन गुटकों को श्री शट्रिटमाटर पिछले दस वर्षों से अपने साथ रखते आये हैं। "मुझे लगता है कि आप हमारे महान् लेखक के एक भक्त हैं", मैंने छेड़ने के अन्दाज़ में कहा। "जी हां, बिल्कुल", लेखक ने स्पष्ट उत्तर दिया। इससे पहले कि शट्रिटमाटर साहब ने वे दोनों गुटके अपनी जेब में डाले मैंने उनका नाम नोट कर लिया : "फैरिरटे फोइगेल" (खोये पंछी) और "फ्लूएस्टेर्न डेर ज़ेले" (आत्मा के बोल)।

अब मैंने अपना साक्षात्कार समाप्त करने का फैसला कर लिया। अपने मेज़बानों के आतिथ्य का गलत फायदा उठाना उचित नहीं था। इसलिये मैंने लेखक से अन्तिम प्रश्न पूछा : "क्या आप मुझे अपने व्यक्तिगत जीवन के बारे में कुछ बतायेंगे ?" शट्रिटमाटर साहब ने तुरन्त ही इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। मुझे लगा कि वे बीते जीवन के पृष्ठों को पलटने में कहीं खो गये हैं। आखिर धीरे धीरे उन्होंने बहुत संक्षेप में जवाब दिया : "मेरे जीवन में वैसे खास कुछ नहीं है। बहुत समय तक मैं सोशल डेमोक्रैटिक पार्टी

का सक्रिय सदस्य रहा हूं। जब जर्मनी को हिटलरी बर्बरता ने दबोच लिया, मैं 20 वर्ष का था। फासिस्टवादी आतंक की उस लम्बी काल रात्रि के दौरान नाजियों ने दो बार मुझे कैद किया। युद्ध में मुझे जबरदस्ती फौज में भरती किया गया, लेकिन मैं चैकोस्लोवाकिया में फरार होने में सफल हुआ। फासिस्टवाद की पराजय के बाद मैं गांव में राजनीतिक कार्य करने लगा। उसी दौरान मैं एक प्रान्तीय अखबार "मायेरकिशे फोल्कस-श्टिम्मे" (जनता की आवाज) का सम्पादक बना।—युवावस्था में मैंने रोमांटिक कविता और दो उपन्यास लिखने का भी प्रयास किया था। मैं अपनी इस बीवी से विश्वविद्यालय के एक समारोह में मिला और इससे सन् 1952 में विवाह किया। मेरे आठ बच्चे हैं।..."

चार घण्टे की बातचीत में ही हम एक दूसरे के इतने निकट आ चुके थे कि विदा के समय मुझे ऐसा लगा जैसे मैं किसी आत्मीय से विदा लेकर बहुत दूर जा रहा हूं। "विदा होने से पूर्व", श्री श्ट्रिटमाटर अचानक बोले, "मैं एक शिकायत करना चाहता हूं आपसे।" हम सब एकदम संजीदा हो गये। तब मेरे हाथों को अपने मजबूत किसानी हाथों में भर कर और मुस्कराते हुये वे बोले : "इस मधुर और महत्वपूर्ण बातचीत के लिये आपको मेरे गांव में ही आना चाहिये था, जहां आप मुझे अपने प्राकृतिक वातावरण में देख लेते। अब भी समय है। आप मेरे फार्म पर आकर दो चार दिन क्यों नहीं गुज़ारते हमारे साथ ?—" मैं लेखक की इस आत्मीय उदारता से इतना अभिभूत हुआ कि मुझ से कोई उत्तर न बन पड़ा। लेकिन आज मैं उत्तर जानता हूं : इस महान जर्मन लेखक और उनकी सुन्दर, सुशील धर्मपत्नी से उनके गांव पर मिलने के लिये मैं आजीवन भी प्रतीक्षा कर सकता हूं।

कहानी और मैं

ओ० पी० शर्मा

स्वयं को दर्पण में देखता हुआ मैं सोचने लगता हूँ :

दर्पण में द्रष्टा, दृष्टि तथा दृश्य सभी एकरूप होते हैं। परन्तु साहित्यिक रचना के दर्पण में दृश्य और उस की प्रतिक्रिया दोनों चीजें भिन्न होती हैं जो द्रष्टा के दृष्टिकोण से आ मिलती हैं। फिर दृश्य सिमट कर द्रष्टा का दृष्टिकोण बन जाता है और उस की रचना फैल कर एक विराट दृश्य।

एकाएक—दर्पण में हलचल सी होती है और दृष्टि के सामने पड़ोस की पुरानी हवेली की मोटी दीवार आ जाती है जो एक सदी को निगल चुकी है परन्तु जिस के सीने के छेद अभी तक भरे नहीं। जिस में चिड़ियों ने घौंसले बना लिए हैं। देखते ही देखते चिड़िया का एक 'बोट' घौंसले से गिर कर गराज की तपती हुई टीन पर आ पड़ा है और सहकने लगा है। जैसे मेरी सौच भी मुझ से अलग हो कर मांस के उस लोथड़े से जा मिली हो और सहकने लगी हो।

अब—दृष्टि के घेरे में एक लड़की आ गई है। वह है तो किसी की पत्नी। उस का तीन महीने का लड़का हृदय में सुराख रहने के कारण कुछ ही दिन हुए मर गया है। मैं उसे लड़की ही कहता हूँ क्योंकि उस की चाल-ढाल में वह ठसक नहीं आ पाई है जो उसे पत्नी प्रकट करे। उसकी आवाज़ में वह सख्ती भी नहीं है जो उसे किसी शराबी की पत्नी अथवा मरे हुए बच्चे की मां ही बना दे।

चिड़िया के उस सहकते 'बोट' को दुपट्टे से उठा कर वह घौंसले में रखने का प्रयत्न करती है कि चिड़ियां उस के सिर पर भूत की भान्ति मंडराने लगती हैं। वह लड़की मुस्करा उठती है।

उस कसैली मुस्कराहट में एक कहानी है। एक नहीं दो कहानियां हैं। चिड़िया समझ रही है कि वह कोई छापामार है। परन्तु वह लड़की ! वह लड़की तो स्वयं ही एक खाते-पीते घौंसले से गिर कर शराबी पति के पंजों में फंसी सहक रही है।

दर्पण धुन्धला गया है। मैं स्वयं से प्रश्न करता हूँ। मैं कौन हूँ ? कहानी क्या है और कहां है ? कहानी लड़की में है ? घौंसले में है ? सहकने में है ? कहानी यदि वहां है तो मैं कौन हूँ !

क्या मैं—एक ऐसा मैदान हूँ जहां भावना और विचार आपस में कुश्ती लड़ते रहते हैं और अधिकतर भावना मार्मिक कल्पना का शस्त्र ले—विचार को पराजित करके दूर फेंक देती है ? उत्तर मिलता है :—

ऐसा नहीं है। मैं तो मैं हूँ। देखता हूं, सुनता हूं। अनुभव करता हूं। फिर उस अनुभव को कल्पना के पंखों पर बिठा कर बस्ती और वीरानों की सैर कराता हूं। फिर—फिर सफेद कागज़ पर काले मकोड़े, भिन्न-भिन्न रूप तथा आकृतियां लिए हुए पंक्तियों में बन्ध जाते हैं। फिर मेरे सन्मुख एक कहानी पड़ी रहती है।

फिर हर बार मुझे 'स्वयं' से पूछना होता है यह कहानी क्या मैंने लिखी ? उत्तर मिलता है :—

'नहीं तुम ने नहीं लिखी ! तुम तो केवल दर्शक मात्र हो। कहानी तो कोई और लिख गया।'

'कौन लिख गया ? यदि यह कहानी मैंने नहीं लिखी तो उसका क्या हुआ ? जो मैं लिखना चाहता था ? वह कहानी कहां है ? कहानी कहां है ?'

मैं झुंझला उठता हूं। उठ कर किसी ओर चल देता हूँ। विचारशून्य नहीं हूं। न ही कभी हो सकता हूँ। यदि हो सकूं तो योगेश्वर हो जाऊं। फिर राम चन्द्र शुक्ल मेरे सन्मुख आ जाते हैं। कहते हैं :—

आत्मा की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है और मन की मुक्तावस्था ज्ञान दशा। उस दशा की अभिव्यक्ति ही कर्म योग है।

साहित्यकार कर्मयोगी होता है। हां ! मैं यह सब कुछ सोच रहा हूँ, परन्तु कहानी के बारे में नहीं।

नीले में पीला, काले में लाल और हरे में सफेद रंग ! इक घिसा पिटा सा टुण्ड ब्रश रंगों को एक दूसरे में गड़मड़ करता है। फिर अपनी घिसी हुई नोक पर मूंग के दाने भर का रंग उठाकर कन्वास तक ले जाता है। फिर वह रंग कन्वास की सृष्टि का एक अंश बन जाता है। फिर अनगिनत अंश जुड़ जाते हैं और कन्वास पर एक मजदूर, एक किसान, एक विधवा, नहाता हुआ एक यौवन, भीख मांगता हुआ बुढ़ापा उभर आता है। यह सारे पात्र क्या पैलट पर थे या ब्रश में छपे बैठे थे या अपना अपना भिन्न रूप लेकर रंगों की बन्द ट्यूबों में छुपे बैठे थे ? या सारे ही पात्र चित्र-कार के मेहमान थे जिन को यह भी पता नहीं था कि चित्रकार के अन्तर से निकलने को बारी किसकी है और कब है।

मैं शायद कहानी के किसी झंझट में फिर से घिर गया हूं। तभी तो यह सोच रहा हूँ कि पानी के लिए धरती की छाती छीलो। अन्न के लिए फावड़े और कुदालियां बरसाओ। फिर उंगलियों का छत आंखों पर बना कर बादल के टुकड़े की प्रतीक्षा करो। फिर जब अन्न का दाना मिले तो उस के हिस्से बट जाएं। पसीने का पात्र उगाने वाला हो और सुख सुविधा का पात्र बटवाने वाला। हां एक ही समय में दो चित्र उपस्थित हो गए हैं। दोनों को चित्रित करने की उत्सुकता हो रही है। परन्तु चित्र लेखनी का हो अथवा तूलिका का। दर्द की शर्त तो दर्दमन्द दिल से है, 'गोदान' और 'कफन' के पिता मुन्शी प्रेम चन्द कहते हैं।

लिखते वही लोग हैं जिन के दिल में कुछ दर्द होता है। वह क्या लिखेंगे जिन्होंने जीवन के ऐश्वर्य को जीवन का लक्ष्य माना है।

फिर आगे कहते हैं :—

साहित्य मानव जीवन का दर्पण है।

हां है ! मैं भी सोचने लगा हूँ। उस दर्पण में जीवन अवधि में

घटने वाले दुःखों अथवा सुखों का मार्मिक अथवा वास्तविक दृश्यावलोकन तभी हो सकेगा, जब दिल में दर्द होगा।

तो कहानी घोंसले से गिरी वह लड़की और कन्वास पर उभरा वह बूढ़ा भिखारी दोनों हैं जो विधना के हाथों नचाए गये पुतलों की भांति कन्वास रूपी दर्पण से झांक रहे हैं। कहानी लड़की है। कहानी भिखारी है। कहानी ब्रश, रंग, अनुभव, अनुभूति है तो मेरा इन से सम्बन्ध ? तो मैं क्या हूँ ?

मैं जब भी स्वयं से पूछता हूं कि मैं क्या हूं तो उत्तर मिलता है :—

तुम समय के कोल्हू पर बंधे हुए बैल की भान्ति हो और ऋतुओं के द्वारा डाले गए सुख-दुःख रूपी तिलों का तेल निकालने के लिए विवश हो।

क्या मैं बैल हूं ? प्रश्न उभरता है। मैं इन्कार करता हूं :—

नहीं ! मैं मानव हूं ! मैं चित्रकार हूं। मैं कहानीकार हूं। मुझ में सब से बड़ी विशेषता यह है कि मैं संसार भर के मानवों के दुखों का राज़दार हूं। तो मेरा 'मैं' मुझ पर हंस देता है। कह देता है :—

तुम दूसरे के दुखों की हाय हाय का बहाना कर के, अपने दुखों को दूसरों के दुखों के कपड़े पहनाकर प्रदर्शन करने के लोभी हो।

मेरी अनुभूति और विचार शक्ति में फिर एक जंग छिड़ गई है। बहुत तर्क-वितर्क होता है। मेरे भाव कहते हैं :—

हमारे पास आहों, दुखों और दर्द के खजाने हैं।

मेरी विचार शक्ति कहती है :—

तुम्हारे पास जीवन है। परन्तु इस जीवन पर तुम्हारा अधिकार नहीं है। और न होना चाहिए।

हां ! मानता हूं। मेरे जीवन पर मेरा ही अधिकार नहीं है। राबर्ट फ्रास्ट भी तो मुझे यही कहते हैं कि तुम्हारी सम्पत्ति तुम्हारा समर्पित जीवन तथा तुम्हारा दर्द-मन्द दिल ही तो है।

यही वह दौलत है जिसके सहारे तुम इस संसार की कचहरी में एक ऊंचे और शानदार जीवन की कल्पना के लिए जीवन के सस्ते और घटिया व्यापारों से लड़ झगड़ सकते हो।

दूध का भरा बरतन मेरे आगे पड़ा है। दूध पर मलाई तैर रही है। मैं चम्मच लेकर मलाई को उस में डुबोने का प्रयत्न करता हूं। परन्तु हर बार ऐसा करने पर मलाई चम्मच के दाएं बाएं से निकल कर, ऊपर तैर आती है। मुझे विस्मय है, दूध ही में से निकली मलाई को दूध में फिर से मिला देने में मैं असमर्थ हूं।

झट से, कलम लेकर मैं बैठ जाता हूं। और सोच रहा हूं किसी ऐसे पात्र के सम्बन्ध में जिसका कोई दुख उसके जीवन का अभिशाप बन कर उसके जीवन की कड़ाही पर, मस्तिष्क के सरोवर पर झिल्ली की भान्ति तैर गया हो उसे मैं इस प्रकार व्यक्त करूं कि बुद्धि चाहे कितनी ही तर्क-वितर्क में उलझाए अन्ततः उसे हार माननी पड़े।

अभी कुछ ही अक्षर फौज की पहली परेड की भान्ति पंक्ति में खड़े किए हैं कि रात्री की स्तब्ध चादर पर उस बुढ़िया की हाय-हाय की टंकार लग कर गूंजने लगी है।

सत्तर वर्ष की मरी-मुरझाई बुढ़िया जिसके खरगोश जैसे बिखरे बाल कभी भी संवरने पर राजी नहीं होते, जो बोलती है तो लगता है हेमन्त के सूखे पत्ते खड़खड़ा रहे हों और जब चलती है तो अनुभव होता है कि इस जर्जर खिलौने की चाबी अब समाप्त हुई कि अब हुई। उसे चुगली और निन्दा करने का बड़ा ढंग है। जिन पड़ोसियों को यह दोनों बातें प्रिय हैं वह लोग इस बुढ़िया की नमक, मिर्च, मसाले और कभी कभी खांड की आवश्यकता पूरी कर देते हैं। इसकी दूर-पार की एक जवान, गोरी-चिट्टी भान्जी इसके साथ रहती है। बुढ़िया निन्दा के लिए मशहूर है और उसकी भान्जी......के लिए। वास्तव में उसके निन्दा करने में एक कहानी है। यदि वह दूसरों की निन्दा न करे तो अपनी भान्जी के अवगुणों को किस ताकचे में छुपाए। वह जानती है कि कुछ समय बाद

वह कैंसर से मर जाएगी परन्तु वह यह भी जानती है कि उसकी गोरी-चिट्टी, भटकती जवान भान्जी को अभी जीना है और वह भी दूसरों की बदनामी की छांव में।

यह क्या कहानी हुई जो मैंने लिखी है? अपनी बागी कल्पना को क्या कहूं, वह बुढ़िया तो एक ओर रह गई और कहानी इस मुई कल्पना की हो गई।

तो कहानी क्या है? क्यों है? और कैसे है? मेरा कहानी से और कहानी का मुझसे सम्बन्ध, मेरे दर्द, विचार शक्ति, भावों अथवा कल्पना शक्ति से है? अथवा मेरे देखने - सुनने और महसूस करने से? मेरे लिए कहानी कहां है?

एक शिकारी शिकार पर है। उसको चीते का और चीते को उसका पता चल गया है। जैसे जैसे चीता उसकी ओर बढ़ता आ रहा है, वैसे ही ट्रिगर पर उसकी पकड़ सख्त होती जा रही है। ओह...। चीता बराबर में आ गया। फायर हुआ। यदि निशाने पर लगा तो चीता ढेर हो गया। और यदि निशाना चूक गया तो शिकारी की शामत आ गई।

क्या इस शिकार और शिकारी में कहानी है? मैं स्वयं से पूछता हूं उत्तर मिलता है:—

यह कहानी नहीं है। यह कहानी की कहानी है।

मैं कहानी लिखने बैठता हूं तो अनुभव करता हूं कि अपनी मौत का परवाना लिखने बैठ गया हूं। अथवा लगता है कि एक मरुस्थल में दुखों की कचहरी लगी है। वहां निर्णय होगा। यदि निशाना ठिकाने पर लगा तो मैं छूट जाऊंगा। यदि चूक गया तो चीता मुझे खा जाएगा।

मैं कभी कभी ऐसा क्यों अनुभव करने लगता हूं कि इस संसार में सभी मनुष्यों के पीछे दुखों के चीते लगे हुए हैं। यदि जीवन का सार इन चीतों के आगे आगे भागना है तो मेरा धर्म कैसा है कि मैं इन चीतों का शिकार करता फिरूं? मैं ही इस त्रास, ह्रास और बेचैनी को समाप्त करने की चेष्टा करूं और उन चीतो के रखवाले मुझ जैसों को समाप्त करने की धुन में लगे रहें।

परन्तु मुझ जैसे मनुष्यों का समाप्त होना सहज तथा सम्भव नहीं है। क्योंकि हम लड़कियों के पिता हैं। कुछ छोटी बड़ी, कुछ अजनबी लड़कियों के पिता। हमें उनको जन्म देना है। उनको पालना है। उनको मस्तिष्क के सूक्ष्म पर्दों पर खिलाना-सुलाना है। फिर कल्पना के पंखों पर बिठाकर संसार का भ्रमण कराना है। फिर वह लड़कियां जब जवान हो जाएं तो उन्हें प्रतीकों के वस्त्र तथा उपमाओं के भूषण बनवा देने हैं। फिर मोतियों के समान सुन्दर और मूल्यवान अक्षरों की माला उनके हाथों में थमा कर विदा कर देना है कि वह स्वयं अपना स्वयंवर कर लें।

कुरूप पिता की पुत्री कुरूप हो, यह जरूरी नहीं। पुत्री तो मेनका, उर्वशी भी हो सकती है।

मैं पिता हूं ! मेरी हर कहानी मेरी पुत्री है।

उधार मुहब्बत की कैंची है

घनश्याम सेठी

बचपन में बड़े बूढ़ों से सुना और होश सम्भाला तो हरेक पनवाड़ी और पंसारी की दुकान में लिखा पाया कि उधार मुहब्बत की कैंची है। आपके परिवार के बड़े बूढ़ों के विषय में तो मैं कुछ नहीं कह सकता, किन्तु अपने बुजुर्गों के विषय में बड़े विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि यदि भवसागर से उनकी नैया पार न लग गई होती तो आज भी उधार मांगते दृष्टिगोचर होते। मैंने स्वयं आज तक पान और सिगरेट नकद दाम देकर नहीं खरीदे, परन्तु यदि कोई यह कहे कि मेरे बुजुर्गों के, अपने शहर के पनवाड़ी से बुरे सम्बन्ध रहे हैं, तो मैं यह स्वीकार नहीं कर सकता। बड़े बोल नहीं बोलता, हमारे परिवार के मूल वैभव का प्रभाव था या बनिये और पनवाड़ी का 'इनफोरियारेटी कम्पलेक्स'' कि वे हमें उधार देना ही अपना सौभाग्य समझते रहे। हम ने भी कभी उनकी इस भावना को ठेस नहीं पहुंचाई और सदा उधार लेकर उन्हें मश्कूर करते रहे।

अपने इस छोटे से अनुभवपूर्ण जीवन में मैं आवश्यकतानुसार उधार भी लेता रहा और अपनी दिसान के मुताबिक मुहब्बत के मामले में भी कंजूस नहीं रहा। किन्तु इसे संयोग ही कह लीजिए कि न मैंने मुहव्वत करने के पश्चात् उधार मांगा है, न उधार ले लेने के पश्चात् मुहब्बत की है। वास्तविक कारण शायद यह हो कि जिस व्यक्ति से मैंने उधार लिया, वह प्रेम-प्यार का कायल ही नहीं था और जिस से प्यार की पींगें बढ़ाईं वह उधार दे सकने में असमर्थ था। कई ऐसे महानुभाव भी हैं जो उधार लेते-लेते मुहब्बत करने लगते हैं और मुहब्बत करते करते उधार ले

लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मुहब्बत और उधार में कुत्ते-बिल्ली का बैर नहीं है।

मैं उन लोगों में से नहीं हूं जिनकी आय का साधन मात्र उधार ही है और जो उधार से ही अपना और अपने बीवी-बच्चों का पेट भरते हैं। यह तो खैर पेशे की बात है और पेट की आग को ठण्डा करने के लिए क्या कुछ नहीं करना पड़ता। यदि उधार देना एक व्यवसाय हो सकता है, जिसकी आय से लोग लाखों बना लेते हैं तो उधार लेने को हम व्यवसाय क्यों न कहें? मेरा कई ऐसे सज्जनों से परिचय है जिन्होंने उधार ले ले कर कोठियां और मकान बना लिये और लखपति हो गए। मैं उन लोगों में से भी नहीं हूँ जो मात्र मनोरंजन के लिए ही उधार लेते हैं, यद्यपि उन्हें इसकी आवश्यकता नहीं होती और उधार फिर भी लेते हैं। जहां तक मेरा सम्बन्ध है, मैं विवशता में घिर कर ही हाथ फैलाता हूं, यानी उस समय जब जेब खाली हो और कोई अनिवार्य आवश्यकता आ पड़ी हो। मतलब यह कि मैं "उधार-उधार के लिए" की बजाए "उधार आवश्यकता के लिए" के सिद्धान्त में विश्वास करता हूं। यह अलग बात है कि मेरी आर्थिक दशा सदा पतली रही है और मेरी आवश्यकताएं प्रायः अनिवार्य? स्पष्ट है, आर्थिक दशा पर राहू-केतू की दृष्टि हो तो मनुष्य क्या नहीं करता? जान पर भी खेल जाता है। उधार तो फिर मुहब्बत की कैंची है, आनी-जानी वस्तु है। आज है, तो कल नहीं।

यद्यपि यह कोई विशेष गर्व की बात नहीं, जिसका खुले-आम ढिंढोरा पीटा जाय, किन्तु वास्तविकता यही है कि मेरे जीवन का अधिकांश किसी न किसी मजबूरी की हालत में ही गुजरा है। अतएव हालात ने मुझे उधार के मामले में अनुभवी बना दिया है। उदाहरणार्थ, मैं किसी ऐसे व्यक्ति से उधार नहीं मांगता जिसके मेरे साथ बड़े अच्छे सम्बन्ध हों या बिल्कुल मामूली जान पहचान हो। दोनों ही से तकाज़े का भय रहता है। बहुत अच्छे सम्बन्ध होंगे, बेतकल्लुफी होगी तो मांगने वाला हंसी-हंसी में उधार जतलाता रहेगा। मामूली सम्बन्ध होंगे तो वह इसे लेन-देन की बात

समझेगा और निश्चित दिन से पहले ही स्मरण कराने आ पहुंचेगा। तकाजे से बचने के लिए आवश्यक है कि ऋण उसी से लिया जाये, जो तकाज़ा करने में झिझकता रहे और इसी उलझन में रहे कि क्यों खुद शर्मिन्दा होऊं, और दूसरे को भी परेशान करूं। सच पूछिए तो शराफत का तकाज़ा यही है कि उधार का तकाज़ा ही न किया जाए। यह स्वीकृत तथ्य है कि उधार एक बोझ होता है: और किस का जी नहीं चाहता कि अपना बोझ हल्का करे। किसी को इस बोझ का ताना देना उसका अपमान करना है। मैं उस भलेमानस का बड़ा मान करता हूं जो उधार दे और भूल जाय, बिल्कुल उसी प्रकार, जिस प्रकार कई भलेमानस देवतास्वरूप लोग नेकी करते हैं और कुएं में डाल देते हैं,...(कह नहीं सकता कि ऐसे देवतास्वरूप कितने हैं, जिन्होंने इस शुभ कार्य के लिए धर्मार्थ कुएं खुदवा रखे हैं। आपको किसी का पता हो तो मुझे लिख भेजें।)

दुनिया में नब्बे प्रतिशत लोग भूल जाने की कमज़ोरी के शिकार हैं, परन्तु कितनी अजीब बात है कि उधार देने वाले को अपनी रकम की पूरी तफसील और सारा ब्योरा याद रहता है। कभी-कभी सोचता हूं कि जिस प्रकार मैं उधार लेकर भूल जाता हूं, यह क्यों नहीं होता कि देने वाला भी देकर भूल जाय। वह भी तो मेरी तरह का ही हाड़ मांस का पुतला है, मशीन नहीं।

यह तो खैर मेरे विरुद्ध विषैला प्रचार किया गया है कि मैं कर्ज लेकर लौटाता नहीं। मैं आप को विश्वास दिलाता हूं कि मैं बचनानुसार ऋण चुका देने का कायल हूं। मैं समझता हूं कि निश्चित समय पर ऋण न चुकाने से बेहतर तो यह है कि ऋण चुकाया ही न जाय। टालने और बहाने-बाज़ी से मुझे घृणा है। मुझे याद है कि मैंने एक मित्र से एक बार ऋण लिया था। निर्धारित समय पर लौटा न सका, परन्तु उसी समय मैंने उनसे जाकर कह दिया कि मैं आपका ऋण न चुका सकूंगा, शर्मिन्दा हूं, क्षमाप्रार्थी हूं! मेरे प्रिय मित्र को बड़ा सदमा हुआ। मेरा विचार है कि यदि मैं टालता रहता और बहाने गढ़ता रहता तो एक न एक दिन वह

भी इस परिणाम पर ही पहुँचते कि कर्जा वापिस मिलने की कोई आशा नहीं और निःसंदेह उस सूरत में उन्हें अपेक्षाकृत बहुत बड़ा सदमा होता। एक अन्य मित्र की महानता के गुण सदा गाता हूं। उनका तरीका यह था कि वह मुझे ऋण देते थे और अपनी डायरी में रकम दर्ज करते, तारीख डालते और साथ ही प्रकोष्ठ (ब्रैकट) में यह शब्द भी लिख लेते "समझो पी गया।" मैंने ऊपर कहा न कि मैं वचनानुसार कर्ज़ लौटा देने के सिद्धान्तों में विश्वास रखता हूं क्योंकि जीवन के अन्य पक्षों में भी अनेकानेक अभावों और विवशताओं के कारण मैं अपने सिद्धान्तों पर चल नहीं सका, इसलिए यह सिद्धान्त भी धरे का धरा ही रह गया। बात यह है कि मुझ में एक ऐसी कमी है जो मुझे किसी भी सिद्धान्त पर अटल नहीं रहने देती। मुझे ज्ञात है कि मेरे लेनदार मित्रों के समान आप भी मेरी बात का विश्वास नहीं करेंगे, परन्तु मैं तो सदा सत्य बोलूंगा कि मैं ऋण लेकर भूल जाता हूं। दोष यद्यपि मेरी स्मरण शक्ति का ही है, परन्तु स्मरण शक्ति भी तो मेरी ही है। मैं इस दायित्व से कैसे बच सकता हूं। अजब मानसिक रोग है, कि मुझे याद ही नहीं रहता कि मैंने किस समय, किस से और कितना उधार लिया था। इस सम्बन्ध में मैंने अपने एक 'साईकियाट्रिस्ट' मित्र से परामर्श किया, परन्तु काम की कोई बात वह भी नहीं बता सका।

यह तो आपने भी सुना होगा कि बद से बदनाम बुरा। और कौन चाहेगा कि दो टकों के लिये बदनामी मोल ले, और अपने विषय में यह सुने कि "वह उधार लेकर लौटाता नहीं"। आप मेरे इस कथन से तो अवश्य सहमत होंगे कि जिस बेचारे की स्मरण-शक्ति ही जवाब दे जाये, वह औरों से क्या शिकवा करे। मुझे भी एक तो इस याद की कमजोरी ने मारा है, दूसरे मेरे साथ संयोग भी उलटे ही पेश आते हैं। उदाहरणार्थ, जब किसी ने याद दिलाया कि आज मेरा ऋण चुका देने का दिन है, मैं झूठ नहीं बोलता, बिल्कुल उसी दिन और उसी समय मेरी जेब जवाब दे जाती है। एक और 'ट्रेजिडी' है। जब जेब इस योग्य होती है कि वचनानुसार उधार चुका दूं तो स्मरण-शक्ति दगा दे जाती है और

याद और जेब, दोनों ही वस्तुओं पर मेरा नियन्त्रण नहीं। परिणाम यह है कि दोष इन दो का है, और बदनामी मेरी होती है।

मुझे उधार देने वाले साक्षी हैं (और भगवान् की दया से उनकी संख्या थोड़ी नहीं है) कि मैंने किसी को मजबूर करके कभी ऋण नहीं लिया। कई बार तो उलटा ऐसा हुआ है कि ऋण देने वालों ने ऋण देने के साथ-साथ सहानुभूति दिखलाना भी आवश्यक समझा। जब मैंने उनसे कहा कि भाई, अमुक दिन उनकी रकम लौटा दूंगा तो उन्होंने भलेमानसों की तरह उत्तर दिया, "इसकी आवश्यकता नहीं, जब हो तब दे दीजिएगा"......मेरा ढाढ़स बंधता है। मैं उन्हें धन्यवाद देता हूं, तो वह कहते हैं कि "साहब, क्यों शर्मिन्दा करते हैं।"

संयोगवश यदि पुनः उनसे भेंट हो जाती है तो मैं सिर झुकाकर उनके ऋण का उल्लेख कर देता हूं कि अमुक तारीख तक अवश्य लौटा दूंगा। वह फिर टोक कर कहते हैं कि—शर्मिन्दा न कीजिए। मन ही मन में कहता हूं, "अरे भलेमानस, तेरे मुंह में घी शक्कर।" ईश्वर करे मुझे भी कोई देवतास्वरूप व्यक्ति ऐसा कुआं खुदवा दे, जिसमें केवल तुम्हारी वही नेकियां डाली जायें जो तुम मुझ पर कर चुके हो, कर रहे हो और करोगे। जब सड़क चलते की मुलाकातें बढ़ जाती हैं तो मैं अनुभव करने लगता हूं कि मैं उन्हें व्यर्थ लज्जित करता हूं और सोचने लगता हूं कि कहीं ऐसा न हो कि मेरी शक्ल देखकर ही उन्हें शर्मिन्दगी अनुभव हो जाया करे और वह इसलिए भविष्य में मुझसे कटने लगें और सलाम दुआ भी जाती रहे। और केवल इसलिए कि मेल-मिलाप और मित्रता में मैल न आ जाए, मैं वह रास्ता ही छोड़ देता हूं जिधर उनसे भेंट हो जाने का भय, मेरा मतलब है सम्भावना हो। ताकि न वह मुझे देख पायें और न उन्हें शर्मिन्दगी हो। देख ली आपने मेरी शराफत। किन्तु मेरे कई अज़ीज़ जिनमें मेरे कई लेनदार मित्र भी हैं, मुझ पर यह अभियोग लगाते हैं कि मैं तकाज़े से बचने के लिए ही ऐसा करता हूं। यह सरासर झूठा दोषारोपण है, आप ही दिल लगती कहिए कि चांदी के कुछ सिक्के अधिक

मूल्यवान हैं या बरसों के सम्बन्ध। मैं कुछ टकों के लिए एक मित्र को ठुकरा दूंगा, यह असम्भव है। मैं तो केवल मित्रों और शुभ-चिन्तकों को शर्मिन्दगी से बचाने के लिए ऐसा करता हूं—उस राह चलना छोड़ देता हूं तो भेंट ही नहीं होती। भेंट नहीं होती तो ऋण की बात भूल जाती है। कभी-कभार मुलाकात होती रहे, सूरत नज़र आती रहे तो ऋण भी याद रहता है, मिलूं तो मित्र को उलझन ही होती है और व्यर्थ ही शर्मिन्दगी का बोझ उठाना पड़ता है और न मिलूं तो ऋण की बात भूल जाता हूं। इधर अकस्मात् ही सामने आ जाने वाली आवश्यकतायें भी मुझे चैन नहीं लेने देतीं। ईश्वर का यह क़हर बन्द हो तो मैं भी इस चक्कर से निकलूं—पर मेरे अज़ीज़ मेरी नीयत पर शक करने लगते हैं। आप ही न्याय कीजिए कि मैं जो ऋण लेकर लौटाता नहीं, मैं जो वह राह तक छोड़ देता हूं जिस पर मित्र से भेंट होने की सम्भावना होती है, इसमें मेरी बदनीयती और बेईमानी का कितना दखल है और मेरी नेकनीयती और ईमानदारी का कितना ?

K. P. SABHA LIBRARY PHALLA JAMMU
No ....
Date ....

तुझ को पराई क्या पड़ी

डा० संसार चन्द्र

"तुझको पराई क्या पड़ी"—यह उपदेश जिस किसी ने दिया हो, परन्तु सचाई यह है कि यह सूक्ति सिर्फ लाजवाब ही नहीं इसका जन्मदाता भी जरूर कोई पहुंचा हुआ इन्सान है। लगता है जो कोई भी इसका बाल्मीकि रहा होगा बेचारा औरों की आग बुझाने में कमर-बस्ता रहा होगा। मगर जब उल्टे उसी के हाथ झुलस उठे होंगे तो बेसाख्ता चिल्लाया होगा—'तुझको पराई क्या पड़ी'। लोगों ने सुनी अनसुनी कर दी होगी और दुनियां अपनी उसी स्वाभाविक चाल से चलती रही होगी।

ऐसे भी हो सकता है कि कोई खुदा-दोस्त, पारसी, नेकियां करता रहा होगा, उमर भर परसेवा में जी-जान से जुटा होगा। अपना अमूल्य जीवन उसने इस काम में गर्क कर दिया होगा। दूसरों की किश्तियों के पत्थर उतारने में रात दिन एक कर दिया होगा और एक दिन अचानक जब उसकी आंख खुली होगी और उसने देखा और समझा होगा कि यह क्या अनर्थ है, अपनी किश्ती का संतुलन बिगड़ रहा है? किश्ती डांवाडोल हो रही है। जब हकीकत सामने आई होगी तब उसने एक साथ अपनी बीसियों उंगलियां बत्तीस दांतों के तले दबा ली होंगी। उसके रोंगटे कीलों की तरह खड़े हो गये होंगे, औसान खता होने पर आमादा हो गये होंगे। कितना अंधेर! दूसरों की किश्तियों के पत्थर उसकी कमजोर किश्ती में लद गये हैं। इतना ही नहीं औरों की अक्ल पर पड़े पत्थर भी उनमें शामिल हो गये हैं। यहां तक कि दुनियां भर के तमाम पत्थर उसकी छोटी-सी नाव में सवार हो गये हैं। दुनियां में पत्थरों का कहत पड़ गया है। आंख फोड़ने के लिये

भी पत्थर नायाब हो गया है। कितना जुल्म है ! दिल पर पत्थर रखने के लिये भी कम्बख्तों ने पत्थर नहीं छोड़ा। ईंट का जवाब देने के लिये भी पत्थर नसीब नहीं होता। तब सिवा यह कहने के और कोई चारा नहीं रहा—"तुझको पराई क्या पड़ी।"

इस कहावत का इतिहास परसेवा के अनेक खतरों और दुष्परिणामों से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। दूसरों के पैरों की बिवाई के दर्द से पिघल कर अपने जूते पेश करने वाले ने जब अपने को अपाहिज होते देखा होगा और इसी तरह कंपकपी के जाड़े में ठिठुरते किसी निर्वसन को जब उसने अपना कोट पहना दिया होगा और स्वयं निमोनियां की यातना से बिलख बिलख कर कराहा होगा। अथवा ऐसे भी हो सकता है कि बादल घिरते देखकर कोई खुदा का बन्दा अपना छाता और रेनकोट किसी बहुत ज्यादा लाचार और गर्जमन्द के हवाले करके खुद उस बरसात में न केवल भीगा होगा बल्कि ओलाबारी का भी शिकार हुआ होगा, तब वह निश्चय ही इस महामन्त्र "तुझको पराई क्या पड़ी" का उपदेश देने पर विवश हुआ होगा।

दोस्तो ! ऐसा भी हो सकता है कि किसी शरणार्थी ऊंट ने किसी मुझ जैसे अभाव-ग्रस्त व्यक्ति की झोंपड़ी के द्वार पर गिड़गिड़ा कर पनाह मांगी होगी। उस बदनसीब इन्सान ने उसे सिर्फ सिर छिपाने की जगह देकर हिमालय जैसी असीम गल्ती की होगी और परिणाम-स्वरूप उसे खुद शरणार्थी बनना पड़ा होगा और लम्बू मियां को अपनी कोहान सीधी करने की पूरी-पूरी आजादी मिली होगी। अथवा ऐसा भी हो सकता है कि कोई अवसर-वादी आपके चूल्हे से आग लेने आया होगा और दाव लगने पर पूरे रसोईघर का सुल्तान बन गया होगा तब उस समय यह उपदेशात्मक फिकरा "तुझ को पराई क्या पड़ी" सहसा फूट कर एक शाश्वत सत्य बन गया होगा।

ऐसी एक नहीं अनेक घटनाएं घटी होंगी। इसी उपदेश को दोहराने के लिये पन्चतन्त्र और हितोपदेश की अनेक कहानियां रची गई होंगी, जिनके अनुसार स्वामिभक्ति दिखाने के फलस्वरूप

बेचारे गर्दभ मियां को डंडों की मार से बेहाल होना पड़ा होगा। बेचारे पक्षी को बन्दर के साथ सच्ची सहानुभूति दिखाने पर भी घरद्वार से वंचित होकर दर-दर की ठोकरें खानी पड़ी होंगी। चूहे को शेर बनाने वाले मुनि को भी उसके हाथों काल का ग्रास बनने की नौबत आने पर अपनी दिव्य शक्ति से उसका पुनः मूषिकीकरण करना पड़ा होगा। और इस प्रकार इस उपदेश की सुदीर्घ परम्परा का इतिहास स्वतः निर्मित होकर आगे बढ़ता गया होगा।

अब तसवीर का एक दूसरा पहलू भी है। जरा गहराई से सोचिए, पराई समस्याओं एवं मुसीबतों को दूर फेंक कर अपनी ही निबेड़ते रहने में कहां की शराफत है। यह कैसी अनोखी फिलासफी है। कैसा विचित्र जीवन-दर्शन है। मानव-सेवा के खिलाफ खुले आम जिहाद का नारा है। मनाव-सेवा तो मानव-धर्म है। खुदाई खिदमत है। इसके खिलाफ जिहाद सरासर कुफ्र है, खुदगर्जी है। सर्वथा स्वार्थ-केन्द्रित दर्शन है। सभी अपनी-अपनी निबेड़ने में लग जायें तो दुनियां का क्या होगा? पारसाई किस जहन्नुम में जायेगी। नेकी, भलाई, करुणा, क्षमा, सहानुभूति का क्या हश्र होगा। आखिर मनुष्य वही है, जो मनुष्य के लिये जिये। मनुष्य ही मनुष्य की दवा है। बिना कर्णधार के किश्ती भंवर से नहीं निकलती। फिर यह गैर-इन्सानी प्रचार क्यों?

तो ठीक, भाई साहिब! आप का कथन वाजिब है। एतराज दुरुस्त है। इस दृष्टि से हम सरे-तसलीम खम हैं मगर हमारी भी एक प्रार्थना है। माना कि मनुष्य ही मनुष्य की दवा है, मनुष्य ही मनुष्य का रक्षक है। मगर अब मनुष्य ही मनुष्य का भक्षक हो जाये तब? जब बाढ़ ही खेत को खाने लगे? जब नेकी का बदला बदी के रूप में सामने आये? जब भलाई ही डंक मारे तब? तब आप भी हमारी बात से सहमत हो जायेंगे। आखिर हमने ही तो कृष्ण पर तीर चलाया था। ईसा को सूली पर लटकाया था। मंसूर को फांसी दी थी और गांधी के गोली दाग़ी थी। जरा बतायेंगे

क्या था इनका अपराध ? पराई निबेड़ने में इन्होंने अपना जीवन सर्फ कर दिया परन्तु मिला क्या ?

नये युग में अब यह प्रश्न और भी गहराई से सोचा जा रहा है। ऐसे उपदेश अब बुढ़ापे की गीता समझे जाते हैं। जवानी में इनको कौन पूछता है ? जब तक भुजाओं में शक्ति है, सोशल सर्विस जैसे नेक काम से मुंह मोड़ना कहां की इन्सानियत है। सच पूछो तो जवानी के दौर में हम भी इस इश्क के खूब दीवाने थे। 'तुझ को पराई क्या पड़ी' की नसीहत से तन-बदन को आग सी छू जाती थी। सोते-जागते, उठते-बैठते गर्ज कि पराई आग में कूदने के लिये हर समय बेताब रहते थे। अपनी निबेड़ने से तो कतई मुंह मोड़ लिया था। सोचते थे अभी जिन्दगी की सुबह है 'जब हश्र का दिन आयेगा उस वक्त देखा जायेगा'। फिर क्या था दर पर जो भी सवाली आया सर आंखों पर बिठाया। विक्रमादित्य और हातमताई की याद ताज़ा होने लगी। "नेकी कर दरिया में डाल" की कहावत की दिन रात प्रेक्टिस होने लगी। नेकियां करते करते दरिया ही नहीं कूंएं भी भर दिये। यद्यपि इन निष्करुण दरियाओं ने अनेक बार हमारे रास्ते रोके, इन निर्मम कूपों ने अनेक बार हमें आत्मघात कर लेने की टैम्पटेशन दी पर हम नेकी की राह से टस से मस नहीं हुए। परन्तु हिन्दुस्तान के दरियाओं में एक बहुत बड़ा दोष है। ये जरूरत से ज़्यादा तेज रफ्तार हैं और लाखों करोड़ों मन नेकियां पलभर में बहाकर समुद्र में गर्क कर देते हैं। इधर कुओं का भी कुछ न पूछिये। ये भी नेकियों के अगणित हजूम अपने असीम पेट में दबोच कर डकार जाते हैं। अब आप ही सोचिए कि जल-देवता की इन बेपरवाहियों के आगे किस की पेश जाती है। चुनांचे हमें फिर अपनी डगर पर लौट आना पड़ा। परोपकार का नशा उतरने लगा और हम पुनः "तुझ को पराई क्या पड़ी" मंत्र की शरण में आ गये।

जब भी पराई बातों में टांग अड़ाने की चर्चा चलती है तो हमें अनायास अपने मामूजान की याद आ जाती है। वैसे वे अब तो सिर्फ मामू ही रह गये हैं। जान कब की जहाने-

फानी से कूच कर चुकी है। भगवान् उनकी नेक रूह को शान्ति दे। जाती बार वे भी "तुझ को पराई क्या पड़ी" की चेतावनी दे गये थे। बात यह थी कि उनका दूसरों के कामों में दिलचस्पी लेने का शौक जुनूं की हद तक पहुंच चुका था। वे जरूरत से ज्यादा दरियादिल थे। चादर छोटी थी। टांगें लम्बी थीं। न तो उन्होंने कभी चादर बढ़ाने की कोशिश की और न टांगों को समेटने की। नतीजा यह हुआ कि चादर छोटी होती चली गई मगर उनकी दरयादिली बराबर बढ़ती रही। हर जरूरत-मंद के लिये उनके दरवाजे खुले थे। जिस वजह से उनके लिए अपने-बेगानों के दरवाजे बन्द होने लगे। एक बार एक परिचित की अदालत में जमानत दे आये जो अचानक फरार हो गया। मामू जी को जुर्माना भी और बड़े घर की आवहवा में सेहत दुरुस्त करने का नायाब मौका भी मिल गया। इस झंझट से छूटे तो किसी जरूरत-मन्द की जरूरत पूरी करने के लिये उसका कुछ सामान गिरवी रख बैठे जो बाद में चोरी का साबित हुआ। हाथ से रकम भी गई और सामान भी और कुछ दिन बाद स्वयं भी इस नाशवान् संसार से कूच कर गये। मामीजान को नसीहत और विरासत के नाम पर यही नसीहत दे गये—'तुझ को पराई क्यापड़ी'।

सारांश यह कि नेकी करनी है तो पचास बार सोचिये। उसे दरिया में डालना है तो सौबार सोचिये। जिस पर नेकी करने के लिये आपका दिल मचल रहा है उसकी ज़ात भी पहचानिये और दरिया की खसलत भी परखिये। अन्यथा लेने के देने पड़ सकते हैं, जान के लाले पड़ सकते हैं। हार फांसी का फंदा बन सकता है और तख्त तख्ते में तबदील हो सकता है।

———

ज़रूरत है–
एक टी-हाउस की

डा० ओम प्रकाश गुप्त

जम्मू नगर में हर ऐसी चीज उपलब्ध है जो इसे महानगरीय संदर्भों से जोड़ देती है। यहां बेतहाशा शोर है, हर तरफ भीड़ के रेले हैं। ट्रैफिक की दृष्टि से इस नगर की तुलना टोकियो के साथ की जा सकती है। यहां गांधीनगर जैसी पोश लोकैलिटी है जहां पंडित दुर्गादत्त शास्त्री रहते हैं और यहीं राजपुरा जैसी वस्ती है, जहां मुझ जैसे छोटे लोग बसा करते हैं। रेल द्वारा यह नगर बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, दिल्ली, पटना से जुड़ा बैठा है। यहां महंगे होटल हैं, खूबसूरत थियेटर हैं। सड़कों पर चलती फिरती रंगीन क्यारियां नज़र आती हैं, पास पड़ोस का निरीक्षण कीजिए बेशुमार बीमारियां नजर आती हैं। यहां तीन कैम्पसों में वटी यूनिवर्सिटी है, लड़कों और लड़कियों के कालेज हैं, सरकारी और प्राइवेट स्कूल हैं। बच्चों और फलों की नर्सरियां हैं: लीडर हैं, भाषण हैं, हड़तालें हैं, नारे हैं। भीड़-भड़क्के वाले बाज़ार हैं, दीवारों से चिपके बेशुमार इश्तिहार हैं। बाबू हैं, मास्टर हैं, मुनीम हैं, सेल्समैन हैं और सेल्स गर्ल्ज हैं। लेखक हैं, सम्पादक हैं। राजनीतिक दल हैं, साहित्यिक संस्थाएं हैं। मक्खियां हैं, मच्छर हैं, आवारा बैल हैं, कुत्ते हैं। सारांश यह कि शहर अपनी पूरी ताम-झाम के साथ यहां जुड़ा बैठा है। लेकिन एक चीज की कमी हमें बुरी तरह कचोटती रहती है और वह कमी है चाय - घर की अर्थात् 'टी बोर्ड' द्वारा चलाए जाने वाले 'टी-हाउस' की।

शहर में चाय के असंख्य शौकीन हैं। चाय पीने के लिए अंधेरे कोने हैं, दुकानें हैं, रेस्तरां हैं, होटल हैं। इन जगहों पर अपने-अपने स्तर तथा रुचि के अनुसार घुसा या पधारा जा सकता

है। बैठे या खड़े हो कर चाय पी जा सकती है। काफी दिन हुए हमें एक साहित्यकार बन्धु अत्यन्त स्नेहपूर्वक चाय पिलाने एक दुकान में ले गए और एक कप चाय का आर्डर दे दिया। एक कप चाय आ जाने पर उन्होंने लड़के को, (सभी शहरों की तरह यहां भी चाय की दुकानों पर छोटे-छोटे बच्चे कड़ी मेहनत से पैसा कमाया करते हैं) ह । लड़के को उन्होंने एक खाली कप लाने को कहा। खाली कप पहुँचा ही था कि एक और साहित्यकार बन्धु नमस्कार बजाते, हमारे पास आ बैठे। फलस्वरूप एक और खाली कप मंगवाया गया। तीनों ने चाय पी और संतोषप्रद ढंग से, सहीसलामत हम तीनों सड़क पर लौट आए।

समाचार बहुत पुराना है कि हमारी यूनिवर्सिटी में कैंटीन नहीं है लेकिन चाय मिल ही जाती है। हमारे एक वरिष्ठ अध्यापक 'लिपटन की चाय' में 'लिपटन की चाह' की ध्वनि दिखा कर छात्र-छात्राओं का मन मोह लेते हैं। वैसे वह स्वयं चाय से दूर रहते हैं। पीनी ही पड़े तो बिना चीनी की चाय पीते हैं। हमारी जानकारी में जब से उन्होंने 'हिन्दी कविता में चीनी अक्रमण की प्रतिक्रिया' का अध्ययन किया है, उन्होंने चीनी का प्रयोग त्याग दिया है। हम लोगों को चायपान करते देख संतोष और सुख का अनुभव करते हैं, और हमारी हार्दिक शुभ-कामनाओं के पात्र बनते हैं।

हमारा पक्का विश्वास है कि 'टी-हाउस' खुले तो उन जैसे लोग भी चाय—चीनी सहित चाय—पीने लगेंगे। टी-हाउस का इस नगर में न होना, स्पष्टतया, बहुत बुरी बात है। टी-हाउस में शोर का अपना तरन्नुम होता है, अपना लहजा, अपनी अदा। हर विवाहित पुरुष पत्नी से फटकार प्राप्त करके 'टी-हाउस' में सचमुच इस अदा से घुसता है जैसे एक कवि चालीस साल की उम्र में मां की गोद में घुस जाना चाहते हैं। एक अन्य साहित्यकार का भोगा हुआ यथार्थ है कि दफ्तर से भाग कर चाय की दुकान में घुसे। बहस के दौरान मुक्का मेज़ पर दे मारना चाहा तो पता चला कि हाथ दफ्तर ही में भूल आए हैं। 'टी-हाउस' में साहित्य-

कारों की कुर्सियां निश्चित होती हैं और उस्तादों के शागिर्द यहीं अपने उस्तादों के करिश्मों का बखान करके अपने लिए किसी सीढ़ी का जुगाड़ किया करते हैं। हमारे एक मित्र जब भी दिल्ली जाते हैं, लौटकर 'टी-हाउस' के अनुभव ज़रूर सुनाते हैं। माजरा यूं बयान करते हैं कि हम कलेजा थाम कर रह जाते हैं। दिल्ली जाने से तो रहे, सोचते हैं—काश, जम्मू में भी 'टी-हाउस' होता।

टी—यानी चाय ! प्यार से सना, मित्रता का प्रतीक, मधुर पेय ! न जाने कितने लड़कों ने बमय लड़के वालों के चाय गटकने के बाद, न जाने कितनी होने वाली पतिव्रता बहुओं के दिल तोड़ दिये हैं। हमने एक बार चाय के जन्म से सम्बन्धित एक लोककथा पढ़ी थी। एक तपस्वी निद्रा को अपनी साधना में भारी विघ्न महसूस कर रहा था। जब-जब सिद्धि का क्षण निकट आता, उसकी पलकों पर नींद उतर आती। बौखला कर साधक ने तेज छुरी से अपनी पलकें काट कर ज़मीन पर फेंक दीं। उन पलकों पर उगा था चाय का पहला पौधा। जो लोग चाय की पत्तियों का प्रयोग करते हैं, उन्हें नींद नहीं सता सकती। मेरी व्यक्तिगत धारणा यह है कि कहानी झूठी है। इसलिए नहीं कि पलकें काट कर नहीं फेंकी जा सकतीं। बहुत से लोग बहुत-सी चीज़ें काट या निकाल कर फेंक देते हैं। दिल तो अक्सर निकाल कर फेंक दिए जाते हैं। सो कहानी के साधक ने भी पलकें काट कर फेंक दी होंगी। लेकिन उन रक्त-सिक्त पलकों से जो पौधा उगा, उसका रस मैं पीता हूं, यह मेरे हृदय को स्वीकार नहीं।

चाय पीने से नींद ज़रूर भाग जाया करती है। परीक्षा के दिनों में विद्यार्थी चाय का प्रयोग इसी कारण बढ़ा देते हैं। मैंने स्वयं शाम पांच बजे के बाद चाय न पीने की कसम खा रखी है। इस का एक कारण यह भी है कि चाय पीने वाले मित्र शाम को ही दर्शन देते हैं। सो, हम शाम को चाय नहीं पीते। हां दूसरे पिलाना चाहें और सानुरोध पिलाना चाहें तो उनका मान रखना ही पड़ता है। वैसे इन मित्रों में बहुत से ऐसे हैं जिन्हें चाय पिए बिना नींद नहीं आती। मैं एक ऐसे स्वामी जी से परिचित हूं जो

चाय की बुराइयों पर प्रभावशाली प्रवचन दिया करते थे लेकिन एक दिन उन्होंने प्रोटेस्ट के तौर पर प्रवचन देने से इन्कार कर दिया। कारण ? व्यवस्थापक 'बेड टी' नहीं पहुंचा पाए थे।

चाय की पत्ती का फ्लेवर उड़ न जाए, इसलिए उसे डिब्बे में बन्द रखने की नसीहत की जाती है। पुराने जमाने में चाय की पत्ती को नक्काशीदार डिब्बे में रखा जाता था। इस डिब्बे को हमदम की तरह, संभाल कर रखा जाता था। कश्मीरी लोग समावार में चाय बनाते हैं। कश्मीरी कहवा विशेष प्रसिद्ध है, और यह कहवा सचमुच खूबसूरत होता है बशर्ते उसमें बादाम खुले दिल से छोड़े गये हों। खूबसूरत बाग में, खूबसूरत साथी के साथ, खूबसूरत समावार से खूबसूरत कहवा पीने वाला व्यक्ति अनायास अन्तर्राष्ट्रीय महत्व प्राप्त कर लेता है। उमर खैयाम ने चाय पी ही नहीं थी। लगता है बच्चन जी ने भी नहीं पी। पी होती तो रुबाइयों का रंग बदल देने में उन्हें काफी से ज्यादा सहायता चाय से मिलती।

आजकल नया युग है इसलिए प्रतीक भी नए हैं। इसलिए एक स्वनामधन्य साहित्यकार ने चुलबुली किशोरी की उपमा गर्मागर्म चाय से दे डाली है। लचकदार प्रौढ़ा को एक अन्य सज्जन ने लखनवी अन्दाज़ में आलू-मटर की चाट मान लिया। यशपाल 'अप्सरा का श्राप' लिखते समय यह लिखना भूल गये कि शकुन्तला ने थके दुष्यन्त को एक 'कड़क चाय' पिला कर ही वश में किया था। बेचारी मेनका इस रहस्य को नहीं समझ पाई और नारी-मुक्ति का उपदेश सुनाती रही। यह बात अलग है कि विश्वामित्र ने भी चाय पिलाकर ही मेनका को स्वर्ग की याद भुला दी थी। कुछ भी हो, चाय और पतिव्रत धर्म का सम्बन्ध शाश्वत है। जहां तक यशपाल का सम्बन्ध है, शैल से लेकर उषा तक उनकी सभी नायिकाएँ—कसम से चायदार रही हैं। हेना यानी हिना का तो रंग ही चाय से मिलता-जुलता है। दूसरे लेखकों की नायिकाओं पर भी यह विशेषण सही बैठता है। रेखा, वनकन्या, सुधा—किसी को भी देख लीजिए।

स्टेशन की चाय का अपना रोमांस होता है। खासकर रात बीत जाने पर आने वाले पहले स्टाप पर सुनाई देने वाली पहली आवाज़—'चाय गर्मागर्म जी', कितनी लुभावनी होती है। शीशे के गिलास में चाय का वह स्वाद नहीं आता जो कुल्हड़ की चाय में आता है। कुल्हड़ को ठंडक और मिट्टी चाय को शत-प्रतिशत भारतीय संदर्भों से जोड़ देती है।

बिना दूध की चाय में नींबू निचोड़कर पीने से सुना है मोटापा कम हो जाता है। कौन सी चाय ठठरियों पर थोड़ा-बहुत मांस चढ़ा सकती है, इसकी खोज करना टी बोर्ड का पावन कर्तव्य है। अगर कोई एम० ए० (हिन्दी) पास सज्जन इस विषय में जानकारी रखते हों तो तुरन्त सूचित करें। उन्हें पी-एच० डी० के लिए रजिस्टर किया जा सकता है। विषय होगा—'रीतिकालीन नायिकाओं की चाय विषयक उदासीनता।'

हम लोगों के चाय-प्रेम का एक ज़बरदस्त कारण है। यह कारण भावनात्मक है। हमने भी भावना में भावना का वरण किया है। याद कीजिए! चाय और कृष्णा मेनन साथ-साथ जुड़े नाम हैं न। पच्चासों कप चाय पीकर मेनन अमरीकी कूटनीति की बखिया उधेड़ देता था। संयुक्त राष्ट्र संघ में लम्बे भाषण के बाद बेसुध पड़े मेनन की तस्वीर हमारी आंखों में है। अपने नगर के टी हाउस में हम मेनन का चित्र ज़रूर लगाएंगे।

बहस और चाय, चाय और बहस का चोली-दामन का साथ है। भारत में चाय और बहस आम आदमी की तरह बहुत आम चीज़ें हैं। साहित्यकार आम आदमी के संघर्ष में उसका साथी है इसलिए चाय-पान में उसकी विशेष रुचि रहती है। चाय और बहस दोनों से मानसिक विरेचन होता है इसलिए वर्तमान संदर्भ में चाय का विशेष महत्त्व है और वर्तमान संदर्भ के लिए टी हाउस का होना बहुत जरूरी है। आज की संस्कृति 'टी हाउस' की संस्कृति जो है।

चाय-विरोधियों के भरसक प्रयत्नों के बावजूद चाय दिग्विजय कर रही है। पौष की सर्दी और जेठ की गर्मी में चाय बराबर

लोकप्रिय पेय है। अब तो बर्फीली चाय का भी काफी प्रचलन हो चुका है। चाय राष्ट्रीय एकता का ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव का प्रतीक बन चुकी है।

टी बोर्ड की पत्तीदार सुन्दरी का निमन्त्रण मेरे मन में अजीब हीन भावना पैदा करता है; उसी तरह जैसे ठीक हिन्दी बोलने-लिखने पर भी मुझे अहिन्दी-भाषी हिन्दी लेखक कहा जाता है। इस प्रकार के विशेषण मुझे महज़ विशेषण बना देते हैं और मेरे व्यक्तित्व को बहुत बौना सिद्ध करने की कोशिश करते हैं।

जिन लोगों के गलत या ठीक, जाने या अनजाने नाम मैंने इस मांग पत्र में गिनाए हैं या कि जिनके नाम उसी तरह छूट गए हैं जैसे घर में चीनी कम होने पर घरवाली चाय में चीनी की पूरी मात्रा डालना भूल जाती है, उनसे क्षमा याचना करता हूं और चाहता हूं कि मेरे नगर को उसका पूरा व्यक्तित्व मिले अर्थात् एक टी हाउस खुले। वैसे चाय की शपथ लेकर कहता हूं, इस मांग पत्र में आए सभी नाम और संदर्भ काल्पनिक हैं; इतिहास से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। हां, अपने नगर में टी-हाउस का न होना एक ऐतिहासिक सच्चाई है।

———

साधारण जन और लेखकीय दायित्व

ओम गोस्वामी

आज फिर साहित्य को उसकी खोई हुई गरिमा प्राप्त होने लगी है। जीवन मूल्यों को प्रभावित करने की इसकी क्षमता उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। साधारण जन की समय-सापेक्ष सच्चाइयां इसमें मुखर होने लगी हैं।

लेखकीय दायित्व का प्रश्न कोई नया नहीं है बल्कि परिवर्तित स्थितियों में इसकी प्रासंगिकता को नए संदर्भों में आंकने की ज़रूरत है। तय है कि श्रृंगार काल में जातीयता के प्रति राष्ट्रवादी दायित्व तथा उपनिवेशवादी दासता के ज़माने में स्वाधीनता के दायित्व की ध्वनि गूंजती रही है। लेकिन अब जिन दायित्वों की बात होती है वे स्वतंत्र देश में साधारण जन के प्रति लेखक की भंगिमा को लेकर हैं।

लेकिन लेखकीय दायित्व या रचनाकार की 'सामाजिक प्रतिबद्धता' पर बात करने से पहले इसे स्पष्ट कर लेना ज़रूरी है कि साधारण-जन है कौन ? साधारण जन के लिये इन दिनों आम आदमी, सामान्य व्यक्ति, मामूली आदमी जैसे पारिभाषिक शब्द प्रयोग में लाए जा रहे हैं। मार्क्सवादी लेखक इसे ही दूसरे अर्थों में सर्वहारा वर्ग के पर्याय के रूप में लेते हैं। परन्तु आम आदमी को उसके समयगत परिप्रेक्ष्य में देखना बेहद ज़रूरी है। समाज के सुविधाभोगी तबके से अलग, वंचनाओं में जी रहे निम्न मध्यवर्ग के लोग ही मामूली आदमी हैं। जिन्दा रहने के आधारभूत साधनों से महरूम और मानवीय संवेदनाओं की लाश ढोने पर मजबूर व्यक्ति के जीवन की अन्तस-कथा तथा प्रतिक्रिया-जनित व्यथा को आज के यथार्थवादी साहित्य में रूपायित किया जाने लगा है।

प्रेमचन्द साहित्य में इसी व्यक्ति को केन्द्रीय इकाई बनाने का आग्रह देखा जा सकता है। या फिर आठवें दशक के उत्तरार्द्ध में मामूली आदमी को साहित्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित करने के संजीदा प्रयास हुए हैं। इससे पहले अभिजात्य वर्ग या मध्यवर्गीय पात्रों पर ही ज़्यादा लिखा गया था।

दूसरे कोण से देखें तो आम आदमी का सवाल मौजूदा आर्थिक विसंगतियों से सीधे जुड़ा हुआ है। आम आदमी की ओर लौटते हुये साहित्य में मामूली आदमी को ही केन्द्रीय इकाई बनाने की चाह समकालीन संदर्भों की पहली शर्त है। लेखकीय दायित्व का निर्धारण करते समय देखना चाहिये कि वह अपने समय के ज्वलंत प्रश्नों के प्रति कहां तक ईमानदार है? आम आदमी की लड़ाई में वह कहां तक उसके साथ है?

जन-साहित्य में सृजन के बाद संप्रेषण ही एक विशेष मुद्दा है। अतएव साधारण जन की पात्रगत भूमिका के इलावा उसकी दूसरी भूमिका बतौर पाठक है। आज का सामान्य पाठक राजनीतिक व सामाजिक वस्तुस्थिति के प्रति बेहद जागरूक है। साहित्य की आड़ में पनपने वाले मन्तव्य उससे छिपाना उतना आसान नहीं। इसलिये लेखक को छद्म का परित्याग करके अपने रचनात्मक सांचे से विश्वसनीय रचनाओं को प्रस्तुत करना होगा। यदि इस व्यक्ति की संवेदनाएं सही तरह से मूर्तिमान हो पाती हैं तो इसे सृजनात्मकता की सफलता मानना चाहिये।

समकालीन संदर्भों में आम आदमी की पहचान दो प्रकार से हो सकती है। ये दोनों रूप लेखक के दृष्टिकोण पर निर्भर हैं। लेकिन इन रूपों की निशानदही से पहले यह स्पष्ट कर लेना ज़रूरी है कि लेखन की अनेक कोटियों के होते हुये भी चर्चा की सुविधा के लिये उसे दो वर्गों में रखा जा सकता है :—

(क) व्यावसायिक साहित्य : इसे मार्किट की मांग देख कर रचा जाता है। इसके रचयिता, सौदागरी मनोवृत्ति के लोग, कई आर्थिक व राजनीतिक सरपरस्तियों तले समाज में ज़हर का व्यापार करते हैं, नफरत बांटते हैं और कोमल संवेदनाओं को

गुमराही के रास्ते पर ले जाते हैं। इसे दृष्टिहीन साहित्य कहना अधिक उपयुक्त होगा। यहां दोयम दर्जे के उस लेखक का ज़िक्र प्रासंगिक न होगा जिससे न तो समाज का भला होता है और न ही जिसमें दिशा-ज्ञान देने की क्षमता होती है।

(ख) सम्बद्ध साहित्य : यह अपने समय की सच्चाइयों से जुड़कर एक विशेष दृष्टिकोण को स्थापित करता है। इसके लेखक के सामने एक खास मंज़िल है। हमारे आस-पास के जीवन के प्रामाणिक शब्द-चित्र इसमें मौजूद हैं। चित्तवृत्तियों का तोष ही इसका प्रयोजन नहीं। आदमी को वस्तु-स्थिति के रूबरू खड़ा करना, उसमें उदात्त भावनाओं को जगाना, समस्याओं को पूर्ण शिद्दत से चित्रित करना इसका काम है।

साहित्य की अनेक कोटियों से हमारा तात्पर्य यह है कि अनेक विधागत साहित्यिक रूपों के बाद किसी रचना की गहराई में जाने पर प्रत्येक लेखक की विशेष शैली दिखाई देती है—जिसे हम 'व्यक्ति शैली' कह सकते हैं। इसमें उसकी विशेष शब्दावली, रूपक, संकेत, प्रिय समास जिन्हें बारंबार वह हर रचना में इस्ते-माल करता है, सामने आते हैं।

आम आदमी की पहचान के लिये देखना होगा कि साहित्य में अपने समय और जीवन-प्रवाह का सही-सही चित्रण हो पा रहा है या नहीं? दूसरी बात यह कि लेखक अपने परिवेश के प्रति संजीदा है या किन्हीं झूठी व कल्पित आस्थाओं को साहित्यिक मूल्य मानकर अपनी शेखियों द्वारा ज़िन्दा रहने का प्रपंच तो नहीं रचे हुये है? साहित्य यदि काम-चलाने और मन-बहलाव का माध्यम बन जाता है तो इस शब्दाडम्बर से दैनंदिन जीवन की कठिनाइयां बढ़ने की ही संभावना है।

हमें देखना होगा कि साहित्य में चित्रित व्यक्ति के नयन-नक्श हमारे चौगिर्द के व्यक्तियों से कहां मेल खाते हैं और कहां उनमें स्पष्ट विषमता उभरने लगती है। यह यत्न भी होना चाहिये कि मशीनी संस्कृति में मनुष्यता के बदलते आग्रहों को साहित्य में तलाश किया जाए। ये समकालीनता के कुछ रौशन मुद्दे हैं।

प्रतिबद्ध दृष्टिकोण वाले साहित्य में भी आम आदमी को असली जीवन-स्थितियों व संवेदनाओं की शिनाखत होनी चाहिये। उसमें प्रामाणिकता की माप-तोल करके देखना चाहिये कि मनःस्थितियां व घटनाएं अनुभव सिद्ध हैं या बेपर की उड़ानें ?

लेखक अपने-आप में सामाजिक-राजनीतिक दबावों व प्रतिक्रियाओं का उत्पाद्य है। इसलिये लाज़मी है कि वह अपने परिचित व आस-पास के जीवन को अभिव्यक्ति प्रदान करे। संदिग्ध प्रामाणिकता वाले अनुभव-खण्डों के सृजन में आम आदमी से कटने का खतरा निरंतर बना हुआ है। वैचित्र्यवादी रूझान का साहित्य सम्बद्धता की कसौटी पर बिलकुल नाकारा है। साहित्य को कल्पना के धुंधलके की कैद से कैसे मुक्त किया जाये ? आज बदलते जीवन मूल्यों की तीव्र गति में लेखक की क्या भूमिका है ? ये ऐसे प्रश्न हैं जिन पर हर लेखक को आम आदमी के चेहरे पर कलम उठाने से पहले अच्छी तरह सोच लेना चाहिये।

आज का समांतर साहित्य विशिष्ट चरित्र के पात्रों से रहित है। इसमें सामान्य जीवन से कटे पात्र नहीं बल्कि साधारण जीवन की मानसिकता वाले पात्र अवतरित हुए हैं। इससे जाहिर होता है कि समकालीन साहित्य की केन्द्रीय इकाई साधारण जन ही है।

लेकिन साहित्य यदि वर्ग विशेष की समझ में आता है तो स्पष्ट है कि सामाजिक-प्रतिबद्धता की दृष्टि से इसका विशेष उपयोग नहीं। साहित्य बौद्धिक वर्ग के शीर्षासन या ज़हनी तफरीह का साधन न होकर समाज को परिवर्तन की दिशा देने का माध्यम है। इसमें पाठक व लेखक के मध्य किसी व्याख्याता की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। यहां उन कारणों पर भी ध्यान देना आवश्यक है जिनके कारण लेखक की रचना बोझिल बन जाती है और परिणामस्वरूप उसकी दुरूहता को भेदना आम पाठक के बूते से बाहिर हो जाता है। इनमें मुख्य कारण है—रूपबन्ध की कृत्रिमता, शिल्प की प्रयोगधर्मिता या तकनीकी चमत्कार की चेष्टा। ये चीजें रचना पर हावी होकर उसमें दुरूहता के बीज बो देती हैं। क्लिष्ट

भाषा में बंधे अभेद्य रूपक, साहित्यिक कथ्य तथा तथ्य दोनों का गला घोंट डालते हैं। कभी-कभी अभिप्रेत के विषय में लेखक का स्पष्ट न होना भी 'कन्फ्यूज़न' की सृष्टि करता है। इसी से संप्रेषण का संकट उपस्थित होता हैं। इस स्थिति को भंग करने के लिए हमें भाषा को साधारण जन के मुहावरे से पुष्ट करना होगा। इन कुछ वर्षों में लेखकों द्वारा अंचल विशेष की शब्दावली का प्रयोग उनके रचना-कौशल की विशेषता बन चला है। झुग्गी-झोंपड़ी जीवन पर बम्बइया हिन्दी में कुछ ताज़े उपन्यासों व कहानियों की भाषिक सहजता देखते ही बनती है।

दृष्टिकोण वाले साहित्य में प्रतिबद्धता से आगे लेखक की ज़िम्मेवारियों में 'सम्बद्धता' या आम आदमी से जुड़ने की शर्त एक प्रामाणिक मानदण्ड के रूप में शामिल कर ली गई है। सर्वहारा या निम्न-मध्यवर्ग के स्थान पर वंचित वर्ग अधिक व्यापक व मानवीय शब्द है—आम आदमी की वांछाओं को समोने-ढोने में समर्थ।

राजनीतिक प्रतिबद्धता में कई बार ऐसा देखा गया है कि आम या गरीब आदमी के जीवन की अन्तरंग पहचान न होने के कारण उसके हितैषी लेखक उसकी कल्पित समस्याओं, जीवन यापन व मनःस्थितियों की गलत बयानी करते रहे। उनकी सोची हुयी अनुभूतियों का केन्द्रीय पात्र अपने स्वभाव और परिस्थितियों के बिल्कुल उल्ट व्यवहार करता पाया गया। और भी अनेक विरोधाभास थे। किन्हीं रचनाओं में आदिवासी जीवन और उसकी सांस्कृतिक थाती को आधार बना कर जिन रीति-रिवाजों और विश्वासों का चित्रण किया गया वे उस जाति में प्रचलित ही न थे। ये बंद कमरे की प्रतिबद्धता थी जिसके कारण साहित्य संसार में ऐसे कारनामे हो रहे थे। इस 'असम्पृक्त प्रतिबद्धता' या कोरी हमदर्दी का तब तक कोई अर्थ नहीं जब तक पात्र की मानसिकता की सही पहचान न हो। इसी कारणवश 'प्रतिबद्धता' से आगे सम्बद्धता की बात उठाई गई। संबद्ध होने का अर्थ है आस-पास के जीवन को उसकी प्रकृत प्रक्रिया से गुज़ार कर रचना में लाना।

सम्बद्ध होकर लेखक सामान्य जन की पीड़ाओं, उसकी मजबूरियों, छटपटाहटों व विद्रोहों को वाणी देता है। लेखक चाहे झंडाबरदार न बने लेकिन तटस्थ द्रष्टा की मुद्रा भी तो अख्तियार न करे। कुतुब मीनार की ऊंचाई पर बैठ कर दूरबीन से जायज़ा लेते हुये नीचे के आदमियों पर लिखना—कभी भी प्रासंगिक नहीं हो सकता। दूरबीन से बौने आदमी की ही सृष्टि हो सकती है, उसकी वेदनाओं का परिचय नहीं मिल सकता। रचना में आम आदमी को उसकी समग्रताओं से चित्रित होना है न कि अधूरे आदमी की छाप छोड़ना है। इसलिये ज़रूरी है कि लेखक ने आम आदमी के परिवेश को भोक्ता के स्तर पर झेला हो। जिस व्यक्ति ने गांव की खुली प्रकृति का मुंह तक नहीं देखा वह कल्पना के संबल से इस अनदेखी धरती पर चाहे बूंदें टपकाए या आकाश को सोंधी महक से भर दे उसमें विश्वसनीयता नहीं आ पाएगी। अखबार या किताब से अनुभव संजो कर किसान के जीवन पर लिखने के बोदे प्रयास को भी तो तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। किस मौसम में पानी की बूंदें किसान के लिये क्या मायने रखती हैं इसके लिये गांव की धरती से सम्बद्ध होना ज़रूरी है।

मन्तव्य-प्रेरित राजनीति से अलग व्यावहारिक 'सम्बद्ध-प्रतिबद्धता' ही लेखकीय सृजनशीलता का केन्द्र-बिन्दु हो सकती है। सम्बद्ध-प्रतिबद्धता में राजनीतिक और धार्मिक-सांस्कृतिक पूर्वाग्रह नहीं बल्कि साधारण जन के प्रति लेखकीय ईमानदारी मुख्य शर्त है।

———

लोरन

ज्योतीश्वर पथिक

पीर पंजाल की हिमाच्छादित चोटियों के दामन में लोरन आज एक छोटा सा गांव है। बिखरी हुई आबादी, निर्धन लोग कटे-बटे खेत...आज की तस्वीर का एक पहलू है। दूसरा पहलू है यहां का सौंदर्य—कल, कल करते दूधिया झाग भरे पानी का बहता हुआ बर्फानी नाला, चीड़ और देवदार के सांय-सांय करते पेड़, धान के खेतों की लहलहाती बालियां, कश्मीर घाटी के किसी भी हिल स्टेशन से सौंदर्य एवं रमणीकता में किसी तरह से कम नहीं। यहां के गूंगे पहाड़, सपाट ढलवानें और मूक पेड़ किसी को यात्रा का निमंत्रण तो नहीं दे सकते मगर जब कोई वहां पहुंच जाए तो उसकी अपनी सुरम्यता एवं रमणीकता से खूब मेहमान-निवाज़ी करते हैं।

लोरन को मिनि-वैली कहा जा सकता है। घाटी से ज्यादा यह क्षेत्र छोटे छोटे पठारों से भरा पड़ा है। जहां कहीं नज़र जाए हरियाली ही हरियाली—ऊपर नीला आसमान और कल-कल करते झरने और बस !

यहां की अधिकांश आबादी मुस्लिम है और इनका रहन-सहन कश्मीर घाटी के लोगों से काफी हद तक मिलता जुलता है। मगर यह लोग पंजाबी, गोजरी, डोगरी और पहाड़ी भाषाएं अच्छी तरह से समझ सकते हैं क्योंकि इनका वास्ता अधिकतर जिला मुख्यालय पुंछ के साथ रहता है—जहां ये तीनों भाषाएं एक साथ प्रचलित हैं। अगर यों कहा जाए कि लोरन में कश्मीर और जम्मू का सांस्कृतिक सामंजस्य मिलता है तो किसी तरह

से गलत न होगा। बर्फानी क्षेत्र होने के कारण यहां के मकानों पर टीन की छतें दूर से चमकती हुई दिखाई देती हैं। कई झोंपड़ियां मटियाली और कच्ची हैं। बरसात की बारिश और शीत ऋतु की बर्फबारी से यहां भारी नुक्सान उठाना पड़ता है फिर भी यहां के लोगों में आत्मविश्वास है और भविष्य के लिये निराशा नहीं। मेरा सहयोगी गुलाम रसूल कहता था—"कुछ न पूछो साहब बरसात और सर्दी हमारे लिये समस्याएं पैदा कर देती है। छतों से पानी टपकता है, दीवारें गीली हो जाती हैं और फिर अचानक धड़ाम से सब कुछ गिर जाता है।"

अब हालात बदल रहे हैं। मटियाले घरों की जगह अब लकड़ी और पत्थरों की दीवारों ने ले ली है। अब इन घरों पर टीन की छतें हैं जिन पर बर्फ जमा होने की बजाय फिसलकर नीचे आ जाती है। अगरचे यह परिवर्तन सम्पूर्ण नहीं, रिवाज धीरे धीरे बदल रहा है। अब भी कच्चे और मटियाले झोंपड़ों की बहुतायत यहां पर देखने को मिलती है जिनमें रात के समय चमकते हुए मिट्टी के दिये चमचमाते सितारों की तरह प्रतीत होते हैं। अब इस स्थिति में भी परिवर्तन आ रहा है। बिजली यहां पहुंच रही है जो वर्षों से फैले हुए अंधकार को धीरे धीरे समाप्त कर रही है और इसके साथ ही शिक्षा का प्रचार भी हो रहा है। पीरों और फकीरों में अंधविश्वास रखने वाले लोग अब नयी चिकित्सा प्रणालियों से लाभ उठाने लगे हैं। परन्तु पहाड़ी क्षेत्रों में अब भी दरिद्रता, गरीबी और पिछड़ापन है। पहाड़ी ढलवानों पर होने के कारण यहां पर कृषि के लिये भूमि कम उपलब्ध है। धान और मक्की के छोटे छोटे खेत बिखरे मिलते हैं। कृषि के लिये भारी मेहनत के बावजूद भी लोगों को प्रचुर मात्रा में अनाज नहीं मिल पाता परन्तु अखरोट, घी, राजमाश और दालें यहां पर बाइफ़ात मिलती हैं। ग्रीष्म ऋतु में खाना-बदोश गुज्जर एवं बकरवाल जब अपने रेवड़ चराने के लिये ऊंचे पहाड़ों पर जाते हैं तो जीवन की रंगीनी बिखर जाती है। रूप एवं यौवन से तमतमाते हुए चेहरों वाली गुजरियां छन छन झांझर

छनकाते हुए जब गुज़रती हैं तो वातावरण झनझना उठता है। रंग-बिरंगी पौशाक चांदी के ज़ेवर और चेहरों की मासूमियत वातावरण की नैसर्गिकता को चार चांद लगा देती है। रात के समय ये गुजरियां अपनी मस्ती में गाने लगती हैं और बांसुरी की मार्मिक तान दिल में उतर जाती है।

लोरन की लोक परम्परा अधिकांश कश्मीर से जुड़ी हुई है इस का सब से बड़ा कारण यह है कि एक तो यह प्रदेश जम्मू प्रांत के एक दूर स्थित कोने में है और दूसरे पीर पंजाल की पहाड़ी चोटियों को पार करके लोग झट से कश्मीर घाटी में पहुँच जाते हैं। लोरन से सुल्तानपथरी और वहां से तोश मैदान होते हुए लोग यूसमर्ग पहुँच जाते हैं या बीरवाह के क्षेत्र में दाखिल हो जाते हैं। इस लिये कश्मीर की संस्कृति की छाप यहां पर गहरी मिलती है। कभी कभी तो लोग यहां तक कह जाते हैं कि कश्मीरी कवयित्री लल्लेश्वरी का जन्म यहीं हुआ था। लोरन से दो किलो मीटर दूर नंदी शूर की आवशार है। ऊंचे पहाड़ों के सुरम्य वातावरण में स्थित यह झरना अपने नैसर्गिक सौंदर्य में 'नूरो छम' से किसी तरह भी कम नहीं। 'नूरी छम' का आवशार बफलियाज़ की पहाड़ियों में बहराम गली के निकट स्थित है जो प्राचीन मुग़ल मार्ग था। यहां पर मुग़ल रानी मलिका नूरजहां स्नान किया करती थी। मगर नंदी शूर का यह झरना अभी तक अछूता है इसका सुरम्य वातावरण सैलानियों को मुग्ध कर देता है।

लोरन तक जाने के लिये अब सड़क बनाई गई है, बड़ी गाड़ियां और बसें प्रायः वहां जाती हैं। पुंछ से मंडी और मंडी से लोरन तक 40 किलोमीटर की यात्रा में लगभग तीन चार घंटे लग जाते हैं। जीप या कार में यह यात्रा डेढ़ दो घंटों में पूरी की जा सकती है। 1960 के बाद मंडी का पुल बना। पहले तो केवल 15 किलो मीटर तक बस जाती थी। अब लोरन तक जाती है। लोरन से 11 किलोमीटर दूर सुल्तानपथरी तक सड़क बनाने का काम जारी है और अगला एवं अंतिम चरण होगा सुल्तानपथरी से 33000 किलो मीटर ऊंचे पीर पंजाल पर तोशमैदान तक सड़क ले जाना। गूजरों

एवं बकरवालों के लिये ये रास्ते जाने पहचाने हैं। धरती के ये खानाबदोश बेटे अपने जीवन की रोमांचकता अपने मन में समेटे मैदानों से पहाड़ों और पहाड़ों से मैदानों तक घूमते हुए जीवन की यात्रा समाप्त कर देते हैं। प्रेम एवं विलास से भरे हुए इन के गीत इनकी गहन वेदना के सूचक होते हैं। एक गीत के भाव हैं :—

"हे सहेली।
पहाड़ों पर जो लोग रहते हैं,
उन के दिल पत्थर के होते हैं,
ये लोग—हर रोज़—
नयन मिला कर,
प्यार की बातें करते हैं,
मगर अंग कभी कभी मिलाते हैं।"

जीवन की यह सपाट सचाई गूजर महिलाओं की मासूमियत की प्रतीक है। इन लोगों के दिलों में मैल नहीं, चेहरों पर मुखौटे नहीं। राजनीति के दांव-पेच से यह लोग परिचित नहीं। गाय भैंस, बकरियां चराने के अतिरिक्त सैफ़-उल-मुलूक और दूसरे गीत इन के जीवन के अभिन्न अंग हैं। ग्रीष्म काल में जब मैदानों के लोग तपती आग तले झुलस रहे होते हैं, शहरी लोग कूलर, एयरकंडीशनर और पंखों तले बैठ कर गरमी से बचने के उपाय करते हैं तो लोरन में गूजरों एवं बकरवालों के आने से एक नयी मादकता पैदा हो जाती है। गुजरियों के गीत :—

इश्क वाला रोग ऐ,
कलेजवा नूं ला लेयो......।

बकरवालों की बंसी की तानें वातावरण में नयी जान डाल देती हैं। मैदानों से पहाड़ों तक गाय भैंस, बकरियां, घरों की एक लम्बी कतार। रात को सड़कों के किनारे लगे हुए खेमें और खेमों से आती आवाज़ें :—

"लगी कैंची दिला दी"

सैफ़-उल-मुलूक और 'कैंची' गुजरी प्रणय गीतों की विधाएं हैं। अब माहिया, गज़ल और गीत भी इनकी कविता में शुमार होने लगे

हैं। परन्तु मार्मिकता एवं भावों की चुभन की दृष्टि से गुजरी-गीतों का जोड़ मुश्किल से मिलता है।

लोरन के स्थानीय कश्मीरी हों या खानाबदोश गुजर-बकरवाल दोनों में अंध विश्वास का तत्व प्रचुर मात्रा में मौजूद है। पीरों और फकीरों में इन्हें गहरा विश्वास है मगर धार्मिक संकीर्णता इन लोगों को छू नहीं पाई है। सीमा पार से होने वाले हमलों और ज़हरीले धार्मिक प्रचार के बावजूद यहां के लोगों का विश्वास धर्मनिरपेक्षता में गहरा है। 1971 में इस क्षेत्र की श्रीमती मालीनि ने सीमापार से आने वाले घुसपेठियों को अपने मकान में बंद करके सुरक्षा सेनाओं को सूचित किया और इन्हें पकड़वाया था। इस बहादुर महिला को बाद में पद्मश्री की उपाधि से विभूषित किया गया।

जितेन्द्र शर्मा

बाजे-वाले

कुछ समय पहले की बात है कि मित्रों की एक अनौपचारिक सी महफिल सजी हुई थी। हम भी एक कोने में दुबके बैठे थे। कुछ सुनने, कुछ सुनाने अर्थात् अपने वर्षों के अनुभवों का निचोड़ यार लोगों के कानों में टपकाने। वार्तालाप का शुभारम्भ सदा की तरह कुछ अपने, कुछ दुनिया के दुःख-गान से हुआ जिसके पश्चात् इस हिममय वातावरण को पिघलाने के आशय से चाय की गर्मागर्म चुसकियों का सहारा लिया गया। चाय के साथ ही वार्तालाप ने भी मोड़ लिया और कुछ ही क्षणों में वहां मुस्कान, हंसी तथा ठहाकों के फव्वारे से फूट पड़े और हंसी और व्यंग्य का तो चोली-दामन का साथ होता है। अतः जैसा स्वाभाविक ही था, इस सभा में चुटकलों के दौर का श्रीगणेश हो गया। यह सिलसिला पर्याप्त समय तक जारी रहा। एक चुटकला और दशों दिशायों को गुंजा देने वाला सम्मिलित हास। यूं तो सभी चुटकले बड़े चटपटे तथा भरपूर मनोरञ्जन करने वाले थे परन्तु एक ऐसा लतीफा भी था जो मुझे आज भी ज्यों का त्यों याद है और जो बात मैं कहने जा रहा हूं उस से इस का खास संबन्ध भी है। अतः उसको दुहराने के लोभ का संवरण मैं नहीं कर पाऊंगा। चुटकला कुछ यूं था—एक बार कुछ लोग तांगे पर यात्रा कर रहे थे। अकस्मात सरपट भागने वाला घोड़ा एक चौराहे पर झटके के साथ ऐसे रुक गया जैसे चलती रेलगाड़ी जंजीर खींच ली, जाने पर धक्के के साथ रुक जाती है। सवारियां हैरान और कोचवान परेशान। पहले तो कोचवान अपनी झुंझलाहट को काबू में रखते हुए प्यार से घोड़े को पुचकारता रहा पर जब घोड़ा उसकी चिकनी चुपड़ी बातों में नही आया तो कोचवान अपनी कृत्रिम विनम्रता को त्याग अपनी

सही भाषा का प्रयोग करने लगा अर्थात् गालियों से उसने घोड़े की पीठ छील कर रख दी। जब घोड़ा इस रौद्र रस के प्रदर्शन से भी अधिक प्रभावित न हुआ तो कोचवान जो संभवतः अपने आपको अश्वविद्या का पंडित मानता था अत्र अस्त्र-शस्त्र से लैस हो कर मैदान में उतर आया और घोड़े की पीठ जो अभी गालियों से प्रतीकात्मक रूप से छिली थी अब बास्तव में कठोर और कर्कश कोड़ों के प्रहारों तले दब गई—पर घोड़ा तो मानो आज अश्विनी कुमार बन चुका था। ऐसा दैवी तेज, ऐसा हठ कम से कम एक साधारण पशु के तो बस की बात नहीं। उधर कोचवान जब साम, दाम, दण्ड, भेद सभी नीतियां अपना चुका और घोड़ा टस से मस न हुआ तो इस से पहले कि कोचवान अपनी अश्व-संचालन विद्या को अधूरा मान कर आत्म ग्लानि से भस्न हो जाता उसने अपने रामबाण का भी प्रयोग कर ही डाला। अर्थात् वह ढोलक गले में डाले नीचे उतर आया। घोड़े के सामने जा कर एक निपुण पाश्चात्य नर्तक की भांति ट्विस्ट करने लगा और साथ ही गले में पड़ा ढोल भी बजाने लगा। आखिर रामबाण था—अमोघ शस्त्र निष्फल थोड़े जाता। घोड़े के शरीर में हर्ष की लहर दौड़ गई और एक सिहरन तथा हिनहिनाहट के साथ उसने अपनी यात्रा का दूसरा दौर प्रारंभ कर दिया अब तो हर पड़ाव पर यही दशा थी अर्थात् हर चौक पर घोड़ा रुकता, ढोल पर थाप पड़ती, कोचवान के कदम ताल पर थिरकते और फिर घोड़े के कदम उठते। सवारियों के पूछने पर कोचवान ने सूचना दी कि टांगे में जोते जाने से पूर्व वह घोड़ी ब्याह-शादियों में दूल्हे ढोया करती थी—जमाने बदल गये थे परन्तु मिज़ाज नहीं बदले थे। हर चौराहे पर ट्विस्ट का मज़ा लेने वाली घोड़ी अब भी अपनी पुरानी आदतों के हाथों लाचार थी।

तो महाशय ! अब आप ही कल्पना कीजिये जब आधुनिक विवाह-समारोहों में सम्मिलित होने वाले मूक पशु संगीत के ऐसे धुरंधर पंडित तथा रसज्ञ हो चुके हों वहां संगीत विद्या के आदि आचार्य मनुष्यों की क्या दशा होगी ?

एक समय हमारा भी था जब प्रत्येक वस्तु सस्ती थी जीवन के लिये आवश्यक सामग्री सहज सुलभ थी परन्तु फिर भी हर कार्य-व्यापार सादगी, विवेक तथा सही ढंग से किया जाता था। विवाह आदि ही नहीं इन से बढ़ कर दुर्घटनाओं के घट जाने पर भी लोगों में ढिंढोरा नहीं पीटा जाता था और एक यह समय है—आधुनिक समय—जब कमर तोड़ने वाली महंगाई होने पर भी और समाज के आर्थिक ढांचे के शिथिल होने पर भी केवल प्रदर्शन मात्र तथा झूठी शान बघारने के आशय से पैसा पानी की तरह बहाया जाता है। संभवतः इसीलिये किसी ने कहा है कि:—

"आशिक का जनाज़ा है ज़रा धूम से निकले।"

इन परिस्थितियों में बेचारे दूल्हे का रोम रोम ऋणी हो जाता है यानी "बन्दा जोड़े पली पली और राम लुढ़ाये कुप्पा।" वाली मिसाल हो जाती है। उर्दू के कवि नज़ीर अकबराबादी ने संभवतः इन परिस्थितियों में घिरे होने पर ही कहा होगा—"दिल की खुशी की ख़ातिर चख डाल माल, धन को। गर मर्द है तू आशिक, कौड़ी न रख कफन को।"

विवाह की तिथि निर्धारित होते ही घरों की छतों को लाऊड-स्पीकरों से ऐसे लैस कर दिया जाता है जैसे युद्ध के समय में किलों की दीवारों को तोपों से युक्त कर दिया जाता है और यह लाऊड-स्पीकर दिन भर दनदनाते रहते हैं और कर्ण-विस्फोटक संगीत लहरियों से पड़ोसियों की जान आफत में डाले रखते हैं। घर की दीवारों पर जलते-बुझते बिजली के कुमकुमे मानो दाम्पत्य जीवन के शुक्ल और कृष्ण पक्ष के प्रतीक हों। रंगों और रोशनियों की यह चकाचौंध दर्शकों का रञ्जन भले ही करे परन्तु ऐसी दशा में बेचारा तकदीर का मारा दूल्हा किसी अंधेरी कोठड़ी में सर थामे इन उजालों से उत्पन्न अंधेरों की कल्पना से कांप रहा होता है…यह अंधेरे वैवाहिक जीवन की समस्याओं के रूप में भी हो सकते हैं अथवा कर्ज़ की अदायगी के भी।

अब विवाह-यात्रा का दृश्य भी देखिये—आगे आगे गैस के हंडों की एक लम्बी कतार जिसके पीछे बाजे वाले एड़ी चोटी का

जोर लगाकर इस कोशिश में लगे रहते हैं कि किसी को कान पड़ी आवाज़ कहीं सुनाई न दे जाये। यही नहीं इस तथाकथित संगीत का अक्सर अवसर की मांग से दूर का भी संबंध नहीं होता। उदाहरण देकर मैं अपने कथन का स्पष्टीकरण कर देना चाहता हूं। एक बार मुझे किसी संबंधी के विवाहोत्सव में सम्मिलित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ। सारा वातावरण कहकहों से गुंजायमान था। कभी पुलिंग कहकहों का रेला सा आता कभी स्त्रीलिंग कहकहे उन पर छाने की कोशिश करते। ऐसे में बाजे वाले भला कैसे पीछे रह सकते थे। उन्होंने अपना योगदान देते हुये बैंड पर यह धुन छेड़ दी—"आंधियां ग़म की यूं चलीं, बाग उजड़ के रह गया"। थोड़ी देर बाद दूल्हे मियां को सजा कर बाहर लाया गया। अचकन ऐसी कि जिसमें उनके जैसे चार दूल्हे समा जायें। पगड़ी कुछ इस अंदाज़ से उनके सर पर विराजमान थी कि देखने वाले को लगे कि पगड़ी सिर पर कम और चेहरे पर अधिक पहनी जाती है। तलवार जिसे शायद उन्होंने ज़िन्दगी में पहली और आखिरी बार थामा था ज़ाहिर है उलटी थी। अचकन से मिलता जुलता ही हाल ज़री के जूतों का था। अब तक बाजे वाले ग़म की आंधियां चलाने के बाद दूसरी धुन पर आ चुके थे। बैंड पर बज रहा था—"मैं मैं मैं कार्टून...।" बात इतने पर भी समाप्त न हुई। दूल्हे मियां के प्रभावशाली व्यक्तित्व का बखान करने के बाद बैंड ने एक और करवट बदली और ऐन उस अवसर पर जब घोड़े पर बैठे दूल्हे मियां यात्रा पर रवाना हुये वातावरण में अपने समय का एक बड़ा ही लोकप्रिय गीत गूंजने लगा—"हम आज अपनी मौत का सामान ले चले।" अब तो मानो बाजे वालों ने हद ही कर दी। हम लोग एक दूसरे की तरफ देखने लगे कि किस प्रकार इस धुन को बंद करवाया जाये। इससे पहले कि औरतें बदशगुनी समझकर ग़श खाने लगें स्थिति को संभाल लिया जाये। मानो हमारी अनबोली फरियाद बैंड वालों ने सुन ली। अब तक सड़क का पहला चौराहा भी आ चुका था। अब "कम सेप्टेंबर" की पाश्चात्य धुन बजाई

जाने लगी। इस धुन का प्रारम्भ होना था कि जुलूस एकदम रुक गया। रुकावट का कारण हमने अपने साथ चलने वाले चौबे जी से पूछा तो उन्होंने व्यंग्य किया—हमारे ख्याल से लड़के वालों पर ट्विस्ट का दौरा पड़ गया है। अजब नाच है साहब यह ट्विस्ट भी। बकौल किसी उस्ताद के लगता है नाचने वाला तौलिये से अपनी पीठ पोंछ रहा है। हम देखते देखते थक गये पर लड़के नाचते नाचते थक नहीं रहे थे। अब हाल यह था कि आगे आगे बैंड कान फाड़े डाल रहा था और पीछे रुके हुये ट्रैफिक का मिला जुला वाद्य-वृंद बैंड के शोर को मात देने के प्रयास में था। हमें लगा कि यह ट्विस्ट नाचने वाले समाज-शास्त्र के प्रारम्भिक अध्याय से भी बिल्कुल अनभिज्ञ हैं कि जो नागरिक-कर्तव्यों के प्रति जागरूक नहीं हैं वह...यह चिन्तन अभी चल ही रहा था कि देखा लड़कों को देखकर लड़कियां भी रंग पकड़ने लगीं। अब तो रौनक दोबाला हो गई। ऐसे मौकों पर औरतें भी अपने आप को लड़कियां ही समझती हैं अतः वह भी सींग कटा कर बछड़ों में शामिल हो गईं। अब जो हमारी शिकायतभरी नजरें चौबे जी की तलाश में उठीं तो उनको भी कमर हिलाते पाया। यानी अन्य पुरुषों के साथ चौबे जी भी मैदान में उतर आये थे। अब तो हमें बेहद गुस्सा आया कि प्रौढ़ लोगों का यह हाल है कि बच्चों से भी बढ़े जा रहे हैं। पर यह क्या ? हमें लगा कि हमारी कमर भी हिल रही है और जब तक हम अपनी कमर का निरीक्षण करते हमारे कदम अनायास उन नाचने वालों के कदमों से हिल-मिल गये थे। मानो ट्विस्ट नाच न हुआ कोई छूत की बीमारी हुई जो न चाहते हुये भी आदमी को लग जाये।

हमें ट्विस्ट करते देखा तो अनुजों ने तालियां बजा बजा कर दाद देना शुरू किया। हमने थक-हार कर नाचना बंद करना चाहा तो औरतों ने अपने दायरे में घसीट लिया। अंग-अंग दुखने लगा था किन्तु यार लोग लगातार नाचते रहने पर विवश कर रहे थे। इधर हमारी सांस फूल गई थी, सिर चकरा रहा था और बेहोशी छा रही थी। स्थिति यह थी कि—

पहले तो हुआ खुद से मैं दरिया के हवाले।
अब चीख रहा हूं कि कोई मुझको बचा ले ।।

संक्षेप में यूं समझ लीजिए कि अब हर चौक पर ट्विस्ट और "ट्रैफिक-जाम" का यही भयानक दृश्य उपस्थित किया जाने लगा था और अंततः हमने चैन का सांस लिया कि बारात लड़की वालों के घर पहुंच गई थी। दूल्हे को घोड़ी पर से नीचे उतारा गया और जैसे ही लड़कियों की विशाल सेना ने उसे चारों ओर से घेर लिया तो लड़की वालों का बैंड गुर्राने लगा—

मार दिया जाये कि छोड़ दिया जाये,
बोल तेरे साथ क्या सुलूक किया जाये।

R. L. Shant
Professor of Hindi
Remina College Srinagar

(Dr. R. L. Shant)
Professor of Hindi
Remina College Srinagar